सरिस्का में

सबको सहेजने का संघर्ष

अरुण कुमार त्रिपाठी

तरुण भारत संघ के काम का एक लेखा-जोखा

373

सरिस्का में सबको सहेजने का संघर्ष

तरुण भारत संघ

सरिस्का में सबको सहेजने का संघर्ष

लेखक : अरुण कुमार त्रिपाठी

आवरण और लेखांकन : राजेन्द्र धोडपकर

प्रकाशक : तरुण भारत संघ
भीकमपुरा किशोरी, वाया थानागाजी
अलवर, राजस्थान

दिसंबर 1993

सहयोग राशि : दस रुपया

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस
गली माता वाली, नई सड़क, दिल्ली-6
फोन : 3264968

सरिस्का में सबको सहेजने का संघर्ष

लेखक : अरुण कुमार त्रिपाठी

आवरण और लेखांकन : राजेन्द्र धोडपकर

प्रकाशक : तरुण भारत संघ
भीकमपुरा किशोरी, वाया थानागाजी
अलवर, राजस्थान

दिसंबर 1993

सहयोग राशि : दस रुपया

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस
गली माता वाली, नई सड़क, दिल्ली-6
फोन : 3264968

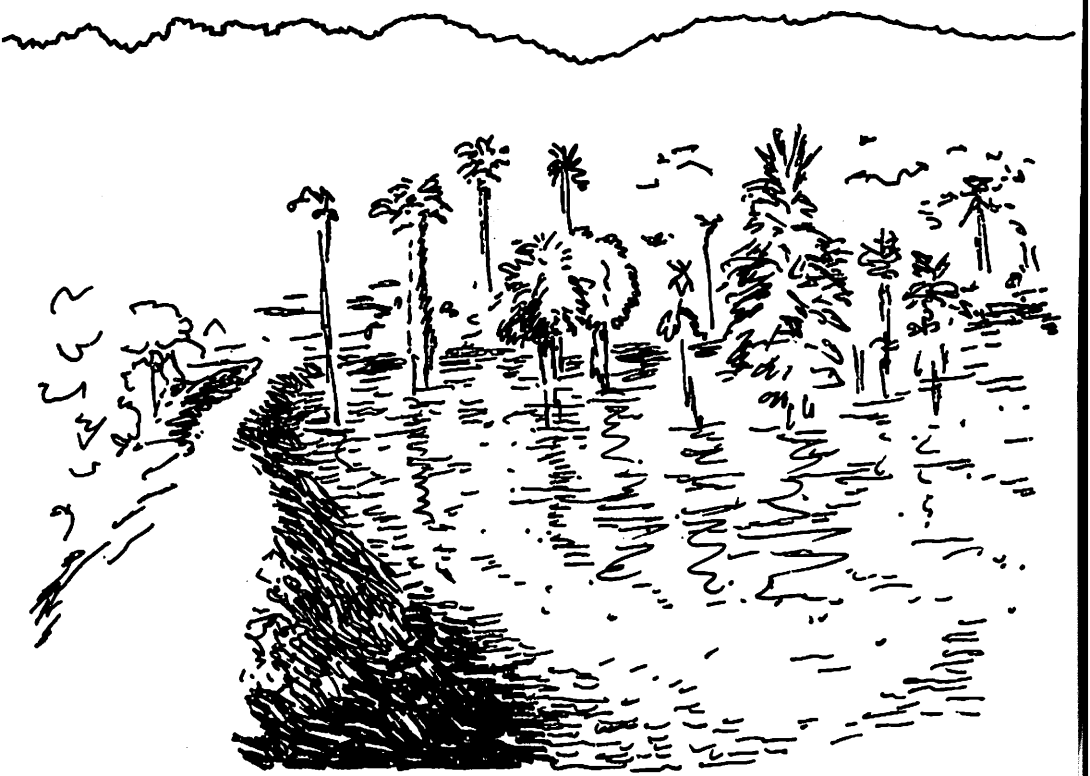

अच्छा है एक दीप जलाएं

कोई समाज या देश जब भी गंभीर संकट में होता है तो निश्चित तौर पर वह विकल्पहीनता की स्थिति से भी गुजर रहा होता है। यानी उसकी पुरानी संस्थाएं, संगठन, समूह और औजार चुनौतियों से निपटने में नाकारा हो चुके होते हैं और नई संस्थाएं, संगठन या औजार होते नहीं। ऐसी स्थितियों में उसके बचने की दो ही सूरतें होती हैं। या तो पुरानी संस्थाएं कोई बृहत्तर और मजबूत विकल्प दें या फिर वह समाज स्थानीय स्तर पर छोटे-छोटे प्रयासों के सहारे उम्मीद की लहरें पैदा करे जो देर सवेर एक बड़े ज्वार का रुप ले सकें। पर समझदारी दोनों सूरतों के एक दूसरे का मुहं ताकने में नहीं बल्कि एक दूसरे की मदद करने उनके पूरक बनने और उनका आइना बनने में है।

आज हमारा देश और समाज सचमुच संकट में है। उसने स्वाधीनता संग्राम के दौरान विकसित जिन मूल्यों और सिद्धांतों को आजादी के बाद मूर्त रुप दिया था वे तार-तार हो चुके हैं। जो व्यवस्था बनाई थी उसकी संस्थाएं एक दूसरे से अहसयोग कर रही है। उन संस्थाओं को चलाने वाले संसदीय लोकतंत्र और उसके अवयव यानी बड़े राजनैतिक दल अपनी विश्वसनीयता ही नहीं प्रासंगिकता भी खोते जा रहे हैं। 'विकास' के जिस 'ध्रुव तारे' को हम शत-शत प्रणाम करते थे वह एक 'भ्रम' साबित हो रहा है। नेहरू जी जिन्हें आधुनिक मंदिर बता रहे थे वे आज विनाश के केंद्र बन गए हैं।

राजनैतिक विकल्पहीनता के इस अंधकार में समाज में छोटे-छोटे प्रयासों के दीप टिमटिमा रहे हैं। वे इकट्ठा होकर सवेरा लाने की स्थिति में तो नहीं हैं पर वे कई बुझी मशालों को जला सकते हैं और हमें यह बता भी सकते है कि 'अंधकार को क्यों धिक्कारें अच्छा है एक दीप जलाएं।' स्वंय सेवी या गैर सरकारी संस्थाएं इसी तरह के लघु प्रयास या दीप हैं। इनमें सबको न तो एक श्रेणी में रखा जा सकता है और न ही सबसे एक तरह की उम्मीद की जा सकती है। इनकी प्रशंसा और निंदा में बहुत कुछ लिखा गया है और आगे भी लिखा जाता रहेगा। पर इतना तो तय है कि इन्होंने आगे बढ़कर उन गरीब और बेसहारा लोगों का हाथ थामा है जिन तक राज्य या उसका तंत्र नहीं पहुंच सका था या जो विकास की दौड़ में हाशिए पर फेंक दिए गए थे। कुछ संस्थाएं सेवा और विकास के कामों से अपना आधार जमाते हुए राजनैतिक हस्तक्षेप भी कर रही हैं। उनकी सीमित शक्ति के बावजूद उनके हस्तक्षेप ने सार्थक बहसें खड़ी की हैं।

इन्हीं में एक संस्था है तरुण भारत संघ जिसका हम यहां विस्तार से वर्णन करेंगे। राजस्थान के अलवर जिले के थाना गाजी तहसील के भीकमपुरा किशोरी गांव को केंद्र बनाकर यह संस्था काम कर कर रही है। देखने पर लगता है यह सरिस्का वनों के पीछे अरावली की गोद में अज्ञातवास कर रही है। या सरिस्का में घुसने की कोशिश कर रही थी लेकिन वन विभाग ने सीमा पर ही उसे पहचानकर रोक दिया। पर वास्तव में ऐसा है नहीं। इसके कामों की चर्चा देश-विदेश में होती रहती है और दिल्ली ही नहीं कलकत्ता बंबई में भी लोग इसका पता बताते मिल जाएंगे। फिर तकनीकी दृष्टि से संघ मुख्यालय भले ही वन क्षेत्र की सीमा पर हो लेकिन उनका काम तो यहां के कोने-कोने में है। वैसे भी हमारी परंपरा में वनवास को श्रेष्ठ कार्यों का उपयुक्त अवसर माना गया है। हमारे कई महापुरुषों की कीर्ति वनवास की वजह से ही हुई है। इसलिए पारंपरिक दृष्टि पर जोर देने वाले तरुण भारत संघ की ख्याति के पीछे वह स्वाभाविक प्रेरणा निहित है।

इस संस्था की उत्पत्ति और विकास इस बात का प्रमाण है कि किस तरह सेवा भाव से गठित संस्थाएं धीरे-धीरे विकास की वर्तमान प्रक्रिया को गति व विस्तार देते-देते उसके लिए चुनौती बनकर खड़ी हो जाती हैं। जैसे महारोगी सेवा समिति के सहारे समाज से तिरस्कृत कुष्ठ रोगियों की सेवा करते-करते बाबा आम्टे आज सरदार सरोवर परियोजना के विरोध में नर्मदा बचाने के लिए खड़े हो गए हैं। उसी तरह जयपुर विश्व विद्यालय परिसर में लगी आग से पीड़ित लोगों को राहत पहुंचाने के लिए मार्च 1975 में बनी यह संस्था आज सरिस्का के वन और वनवासियों के लिए ढाल बनकर तन गई है। इसने न सिर्फ इस क्षेत्र के गांवों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए उन्हें धरती की सबसे अमूल्य संपदा पानी के रक्षण के पारंपरिक तरीकों की याद दिलाई है बल्कि राजस्व, विदेशी मुद्रा व रोजगार के बहाने इस क्षेत्र में हो रहे अवैध खनन को रोकने के लिए कठिन

संघर्ष किया है। इस संवर्ष में उन्हें विजय भी मिली है पर उसकी हिफाज़त उतनी ही मुश्किल है जितनी किसी अमोले की। कहने के लिए तो इस क्षेत्र के वनों और वन्यप्राणियों की रक्षा के लिए सरकार ने सरिस्का बाघ परियोजना और राष्ट्रीय उद्यान जैसी महत्वाकांक्षी योजनाएं चला रखी हैं पर इस क्षेत्र की वन्य और जैविक संपदा का लगातार विनाश हो रहा है। इस क्षेत्र में केंद्र सरकार की खेतड़ी तांबा परियोजना ही नहीं चल रही थी बल्कि राज्य सरकार ने सैंकड़ों डोलामाइट व संगमरमर की खदानों को पट्टा दे रखा था। तरुण भारत संघ की सुप्रीम कोर्ट में कानूनी लड़ाई और यहां चले जबरदस्त आंदोलन के बाद इनमें से कई खदानें बंद हो गईं (तांबा परियोजना लागत के मुताबिक कम उत्पादन के कारण रुकी पड़ी है।) लेकिन कुछ काफी बाद तक चलती रहीं। इस बीच 24 जुलाई 1993 के आसपास सरिस्का परियोजना के उस कर्मचारी की हत्या कर दी गई जिसने जून में यहां एक आई ए एस अधिकारी हरीराम मीणा को शिकार करने के आरोप में गिरफ्तार किया था। श्री नारायण मीणा नाम का वह कर्मचारी जो अधीनस्थ कर्मचारी संघ का अध्यक्ष भी था 24 जुलाई के बाद से गायब था बाद में उसकी लाश अजबगढ़ के एक कुएं में पाई गई।

हमारे अधिकारी और राजनेता वन कानूनों में उसी तरह का विशेषाधिकर चाहते हैं जिस तरह 1876 के वन कानूनों में अंग्रेज अधिकारियों और राजाओं-महाराजाओं को मिला था। अंग्रेजों नें वनवासियों के सारे अधिकार छीन कर उन्हे चोर और तस्कर बनने पर मजबूर कर दिया जबकि शासकों को शाही शिकार के आयोजन की छूट दी थी। आज स्थिति हूबहू वैसी तो नहीं है पर ज्यादा फर्क नहीं है। शासक वर्ग वन और पर्यावरण की रक्षा के नाम पर वहां सदियों से रह रहे वन-वासियों को तो भगाता है, पर अपने लिए खनन, पेड़ काटने और शिकार करने का विशेषाधिकार चाहता है। एक देसी कहावत है 'नाई को बाल न काटने दे और कसाई से कहे गर्दन बूचो'। तरुण भारत संघ ने प्राकृतिक संसाधनों और वनवासियों के शोषण को बढ़ावा देने वाले कानूनों और विकास प्रक्रिया को सरिस्का क्षेत्र में चुनौती तो दी है पर क्या इतने से वहां के पर्यावरण के बारे में निश्चिंत हुआ जा सकता है ? इस लड़ाई को स्थानीय स्तर पर तो लड़ना ही पड़ेगा पर क्या यह सिर्फ स्थानीय स्तर की लड़ाई है ? यह बात सैद्धांतिक रुप से सही है कि सिर्फ एक क्षेत्र, एक प्रदेश या एक देश में पर्यावरण की रक्षा करके आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता। पर्यावरण को बचाना है तो पूरी धरती के पर्यावरण को एक साथ बचाना होगा। इसीलिए रियो डी जनेरियो में पृथ्वी शिखर सम्मेलन करने की जरूरत पड़ती है। पर अगर यह सिद्धांत व्यावहारिक स्तर पर स्वीकार्य हो पाया होता तो रियो डी जनेरियों का कोई सार्थक नतीजा जरूर निकलता। पूरी दुनिया में पर्यावरण रक्षा को लेकर सहमति और विकास की दिशा बदलने का सपना ट्राटस्की और ग्वेवारा के अंतराष्ट्रीय क्रांति के आह्वान जैसा लगता है। वे कहते थे कि क्रांति के दीप को एक देश में तब तक सुरक्षित

नहीं रखा जा सकता जब तक पूरी दुनिया में क्रांति न हो। लेकिन वे बिल्कुल सफल नहीं हुए। जबकि लेनिन, कास्त्रो या माओ ने एक राष्ट्र के भीतर हुई क्रांतियों की हिफाज़त को ज्यादा जरूरी समझा। वे पूरी तौर पर सफल तो नहीं हुए पर ट्राटस्की या चेग्वेरा के मुकाबले ज्यादा सफल माने जाते हैं।

तरुण भारत संघ का दृष्टिकोण सीमित नहीं है। पर उसकी सामर्थ्य सीमित जरूर है। इसलिए वह अपने कार्य क्षेत्र को स्थानीय स्तर पर ही और सघन बनाने व उपलब्धियों की रखवाली की बात करता है। लेकिन पर्यावरण आंदोलन के दायरे को बढ़ाना स्थानीय उपलब्धियों की रखवाली का ही एक हिस्सा है। इसीलिए तरुण भारत संघ अब पूरे अरावली को बचाने के अभियान में जुट गया है। क्योंकि उसे लग रहा है कि अपने-अपने हिस्से की लड़ाई लड़ने में एक दिन कोई नहीं बचेगा। अगर सरिस्का को बचाना है तो पूरे अरावली को बचाना पड़ेगा और अगर अरावली को बचाना है तो पामीर, विंध्य, सतपुड़ा और हिमालय को भी बचाना होगा।

अगर इस काम का स्थानीय महत्व ही होता तो तरुण भारत संघ को अमेरिका व ब्रिटेन की आक्सफेम, नीदरलैंड की इको और स्विटजरलैंड की इंटरकोआपरेशन से मदद न मिलती ? आर्थिक सहायताओं ने जहां उसे अपने काम को विस्तार देने में समर्थ बनाया है वहीं विदेशी मदद लेने पर होने वाली निंदा को भी आमंत्रित किया है। राजस्थान विधानसभा में इस संस्था पर सीआईए का एजंट होने का आरोप तक लगा और उसकी सर्वदलीय समिति ने जांच भी की। पर उसका खास नतीजा सामने नहीं आया। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के प्रकाश करात विदेशी सहायता के आधार पर भारतीय गांवों का विकास करने वालों की नीयत व इसके परिणामों पर सन् 1984 में जो सवाल खड़े किए थे वे आज भी स्वंयसेवी संस्थाओं को लांछित करते रहते हैं। गांधीवादी संस्थाओं को विदेशी सहायता व उनके कामों की जांच के लिए बना कुदाल आयोग और 1976 के (एफसीआए) विदेशी सहायता नियंत्रण अधिनियम में संशोधन प्रकाश करात की ही आलोचना के परिणाम थे। हालांकि इन सब कार्रवाइयों से स्वयंसेवी संस्थाएं विदेशी सहायता पाने के लिए पंजीकरण कराने और उसका अलग हिसाब रखने और उसे घोषित करने पर मजबूर हुई हैं। लेकिन कुदाल आयोग के गठन में बदले की भावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इन गांधीवादी संस्थाओं ने जयप्रकाश नारायण के आंदोलन में मदद की थी और 1977 में विपक्षी सरकार के निर्माण में सहयोग दिया था इसलिए कांग्रेस उनसे चिढ़ी हुई थी।

जहां तक प्रकाश करात के इस तर्क का सवाल है कि विकास का काम करने वाले दल शोषित वर्ग के क्रांतिकारी तेवर को मद्धिम कर देते हैं तो उसमें कोई खास दम नहीं लगता। क्योंकि गरीब और उपेक्षित जनता कब तक माकपा के क्रांति का इंतजार करेगी ? लेकिन विदेशी (पश्चिमी देशों से) सहायता लेते हुए पश्चिमी विकास माडल

के खिलाफ संघर्ष करने की बात में विरोधाभास साफ नजर आता है। क्योंकि ऐसा अस्वाविक लगता है कि धन देने वाले का कोई स्वार्थ सिद्ध न होता हो या वह अपनी कोई शर्त न मनवाए। यह आरोप उस संस्था की सामाजिक छवि और व्यापक संघर्ष पर भी असर डालता है। अगर ऐसा न होता तो ग्रीन पार्टी की कल्पना करने वाली नर्मदा बचाओ आंदोलन की नेता मेधा पाटकर विदेशी सहायता के आरोप का बार-बार खंड़न न करती। क्रांतिकारी आंदोलनों से निकले कई लोगों ने विदेशी सहायता लेकर विकास व संघर्ष का संकल्प जताया पर बाद में सिर्फ धन के जुगाड़ में दौड़ते नजर आए।

इन तमाम सैद्धांतिक आरोपों व अनुभवों बावजूद तरुण भारत संघ ने व्यावहारिक स्तर पर यह साबित किया है कि विकास और संघर्ष (या रचना और संघर्ष) साथ-साथ चलाया जा सकता है और अगर हम अपनी शर्तों पर विदेशी सहायता लेते हैं तो अन्याय के विरोध की तड़प और संघर्ष की आजादी बचाए रख सकते हैं ? हो सकता है छात्र युवा संघर्ष वाहिनी से निकले तरुण भारत संघ के युवा मंत्री राजेंद्र सिंह में पृष्ठभूमि की वजह से ही संघर्ष का तेवर बचा हो पर उन्होंने सरिस्का में बांध और जोहड़ बनाने के साथ-साथ खनन के खिलाफ जो संघर्ष चलाया वह फिलहाल तो प्रकाश करात के आरोपों का खंडन करता है। वे कहते भी हैं कि हमने एक-एक पैसे का सदुपयोग किया है। और फिर जो हमारा पर्यावरण विगाड़कर गए हैं वे हमें कुछ दे रहे हैं तो हमें क्या ?

विदेशी सहायता विकास कामों के जितना समानुपाती है उतना ही संघर्ष के व्युत्क्रमानुपाती भी है। राजेंद्र सिंह भी इस बात को स्वीकार करते है कि उनकी संस्था की मदद करने वाली बाहरी और घरेलू संस्थाओं ने भी उनके खनन विरोधी संघर्ष को उतने उत्साह से नहीं लिया जितना बांध या जोहड़ बनाने को। इसीलिए इस बात की काफी संभावना है कि अगर अरावली क्षेत्र से खानों की 25 किलोमीटर बाहर खदेड़ने का संघर्ष शुरू हुआ तो यह मदद घट भी जाए।

तरुण भारत संघ के साथ सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उसने अपने बांधों और जोहड़ों के निर्माण में उस देशज और पारंपरिक दृष्टि का प्रयोग किया है जिसे अंग्रेजों ने हेय बताया और आजाद भारत के विकासवादियों ने तिरस्कृत किया। संस्था ने अपने प्रयोगों से यह साबित किया है कि हमारे पारंपरिक समाज में अपने प्राकृतिक संसाधनों को सहेजने व उपयोग करने की एक दृष्टि थी जो कि कई मायने में आधुनिकतावादी दृष्टि से बेहतर थी। वे गांव वालों को अनपढ़ और अज्ञानी मानकर उन्हें सभ्य बनाने का नहीं बल्कि उनसे कुछ सीखने और उनके पारंपरिक तरीकों को पुनर्जीवित करके लोगों को स्वावलंबी बनाने का दावा करते है। इसलिए वे निर्विवाद रुप से विकास के मौजूदा ढांचे के बरक्स छोटे देशज और रचनात्मक विकल्प हैं। अगर वे विकास की मौजूदा प्रक्रिया से सीधा टकराव न मोल लें (हालांकि इससे बच पाना

मुश्किल लगता है) तो भी उनके इस काम का महत्व है और वह दूसरी जगहों के लिए प्रेरणा का स्त्रोत भी है।

उनके काम के प्रभाव का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जिस संस्था के लोगों को कभी माल गांव से यह कहते हुए खदेड़ दिया गया था कि ये लोग बच्चे उठाते हैं और लड़कियों को फुसलाकर बेचते है, उन्हीं गांवों में आज संस्था के कार्यकर्ताओं का 'जोहड़ वाले बाबा' कहकर आदर किया जाता है। आज इस संस्था के पास सौ के आसपास समर्पित कार्यकर्ता हैं और काम को जारी रखने के लिए अच्छी साख और संसाधन है। स्कूल खोलने और जोहड़ बनाने से लेकर सरिस्का के लिए संघर्ष करने का अनुभव है। तरुण भारत संघ आज सचमुच अपनी तरुणाई में है।

जोहड़ों से जुड़ते लोग

जिन्हें अकाल व सूखे का अनुभव न हो या जिन्होंने उस क्षेत्र की पीड़ा को समझा न हो उनके लिए बड़े-बड़े बांधों, नहरों और अत्याधुनिक औद्योगिक सभ्यता के इस युग में छोटे-छोटे बांध या जोहड़ बनाने या पोखर व सर खोदने का काम मध्ययुगीन या दकियानूसी लग सकता है। जोहड़ का पानी पीने वाले (साफ करके) असभ्य लग सकते हैं। लेकिन जिन्होंने जोहड़ों या छोटे-छोटे बांधों के सहारे अपनी उजड़ती सभ्यता को फिर से बसाया है और आर्थिक स्वावलंबन कायम किया है वे इसे पुनः प्रकट हुई सरस्वती (नदी) या 'कामधेनु' की संज्ञा देते हैं।

पानी का महत्व साबित करने के लिए कोई तर्क देने की जरूरत नहीं है फिर भी नगरीय व औद्यागिक सभ्यता के विकास की झोंक में इस महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन के सदुपयोग व दुरुपयोग का अंतर भूल चुके लोगों को इतना बार-बार याद दिलाना जरूरी है कि इतिहास में पानी के निकट ही मानवीय सभ्यताओं की शुरूआत हुई थी और पानी की कमी व अधिकता के कारण कई सभ्यताएं नष्ट हुई हैं। इसलिए पानी के समुचित प्रबंध पर ध्यान दिए बिना इस धरती पर मानव ही नहीं संपूर्ण सृष्टि का अस्तित्व संकट में पड़ सकता है।

तरुण भारत संघ का सबसे महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य 'जोहड़' व छोटे-छोटे बांध बनाने का है। इस संगठन ने आठ सालों में अलवर तहसील के 210 गांवों में 266 बांध व जोहड़ बनाए है। इसके अलावा सवाई माधोपुर व जयपुर जिलों तक अपने काम को फैलाते हुए वहां भी क्रमशः सात और तीन बांध बनाए। जिनसे न सिर्फ इस इलाके में अकाल (व बाढ़) से लड़ने की क्षमता आई है बल्कि हजारों हेक्टेयर खेती और जंगल हरे-भरे हुए हैं। अगर लागत देखी जाए तो गांव वालों के श्रमदान का मूल्य लेकर भी यह एक करोड़ रुपये की सीमा नहीं पार करती। और जोहड़ बनाने से हुई आर्थिक उपलब्धि के साथ अगर गांवों में आई संगठन शक्ति और सामुदायिक सम्पत्तियों के संरक्षण व प्रबंधन की नई दृष्टि का मूल्य भी (पुर्जीवित पारंपरिक दृष्टि) जोड़ लिया जाए तो उपलब्धि की तुलना में लागत बहुत मामूली है। 'जोहड़' जौहर से निकला हुआ शब्द लगता है। संभवतः समर्पण और त्याग यानी जौहर के बिना तालाब या पोखर नहीं बन सकते इसलिए इसे जोहड़ का नाम दिया गया होगा। इसीलिए इन्हें बनाने वालों का नाम अमर हो जाता था। पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, मध्यप्रदेश के कुछ इलाकों और राजस्थान के अलवर और भरतपुर जिलों में धरती के ऊपर पानी के संरक्षण के लिए बनने वाले ढांचे को 'जोहड़' कहते हैं। राजस्थान के ही बीकानेर, गंगानगर, बाड़मेर, जैसलमेर में इसे 'सर' तो जोधपुर में 'नाड़ा-नाड़ी कहते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश का पोखर भी इसी का भाई है हालांकि अपने देशकाल और बोली भाषा के कारण वह थोड़ा अलग लग सकता है। जोहड़ एक तरह का तालाब ही है पर हर जगह न तो तालाब की संरचना जोहड़ से मिलती है न ही हर जगह तालाब को जोहड़ कहते हैं। लेकिन इससे मिलती जुलती संरचनाएं पूरे भारत में पाई जाती हैं।

अलवर क्षेत्र में बनने वाले जोहड़ चंद्राकार (द्वितीया के चांद जैसे) होते हैं। इनका मुंह उस तरफ खुला रहता है जिधर पहाड़ी या पठारी ऊंचाई होती है ताकि ढलान से पानी आकर उसमें जमा हो। और जहां से जानवर वगैरह पानी ले सकें। इसे आगौर या घाट कहते हैं। दूसरी तरफ पूरी गोलाई में पाल या बांध बना होता है जो पानी को रोकता है। पाल का आधार बीच में किनारे के आधारों से चौड़ा होता है। अगर किनारे पर सात हाथ चौड़ी है तो बीच में 14 से 21 हाथ तक होती है। जबकि इसकी ऊपरी सतह समान रुप से पांच हाथ रखी जाती है। पाल पर पानी के दबाब को नियंत्रित करने के लिए कभी-कभी उसे बीच में थोड़ा उत्तल (करनवेक्स) कर देते हैं ताकि पानी का दबाव दो तरफ बंट जाए। उसे कोहनी कहते हैं। इसके अलावा पाल के किनारों को थोड़ा काटकर वहां पत्थरों की पिचिंग करके भी पानी निकलने की व्यवस्था की जाती है। इसे नेष्ठा बोलते हैं।

समतल इलाकों में इसे आयताकार संरचना दे देते हैं और वहां भी एक तरफ खोल देते हैं ताकि आदमी और पशुओं को पानी तक पहुंचने में आसानी हो। अरावली

की पहाड़ियों से होने वाली वर्षा को बटोरने वाले ये जोहड़ गहरे होने की वजह से पानी का वाष्पीकरण रोकते हैं। इससे न सिर्फ आसपास के खेतों में नमी रहती है बल्कि उनकी सिंचाई होती है और नजदीक के कुओं में भरपूर पानी रहता है। बताते हैं कि प्रकृति के सर्वाधिक अमूल्य रत्न पानी को सहेजने की यह बैंकिग प्रणाली पांचवी से उन्नीसवीं सदी तक जारी रही। इसी के बूते पर इस कम वर्षा वाले क्षेत्रे में लोग एक बूंद पानी को बेकार नहीं जाने देते थे। हालांकि तालाब सिर्फ कम वर्षा वालें क्षेत्रों में पाए जाते हों ऐसा नहीं है। भारी वर्षा वाले बंगाल से लेकर मध्यम वर्षा वाले मप्र, उप्र, बिहार और दक्षिण भारत तक तालाब अद्वैत भाव से फैले हुए हैं। "पूरे देश में करीब 11 से 12 लाख तक तालाबों का रिकार्ड मिलता है। एक बार इनका पेट भर जाए तो ये अकाल के लिए भी महाकाल बन जाते थे। गोंड, लोनिया मीणा, ढीमर, दुसाध, मुसहा से लेकर पुष्करणा ब्राहमणों तक तालाब बनाने वालों का लंबा जातीय इतिहास है। बताते हैं कि पहले बड़े पैमाने पर पेयजल की पूर्ति इन्ही जोहड़ों से होती थी। सन् 1950 में भारत के कुल सिंचित क्षेत्र की 17 फीसदी सिंचाई भी जोहड़ से होती थी। और अतीत में 80 फीसदी तक सिंचाई होने का भी दावा किया जाता है। लेकिन पिछले सालों से इस जल बैकिंग प्रणाली का विज्ञान खोता गया और यह दिवालिया होने लगी।" नतीजन जोहड़ों में गाद भर गई। बंधे टूट गए। वर्षा का पानी खेतों में रुकने या धरती में छनकर जाने के बजाय पहाड़ियों से नीचे सीधे उतर जाने लगा। जिन्होंने भाग्यवधू से प्रतिज्ञा की थी उन्होंने आजाद भारत में अपनी सरकार पर ही सारी जिम्मेदारी डाल दी। नतीजतन गांव की सामुदायिक शक्ति क्षीण और उदासीन होती गई। फिर गांवों में आधुनिकीकरण के मार्ग में जोहड़ों या बांधों का कोई महत्व भी नहीं बनता था। बल्कि वे पिछड़ेपन के प्रतीक व विकास के मार्ग में बाधक माने जाने लगे।

सन् 1986-87 का वर्ष इस इलाके में भयंकर अकाल का था। लोग गांव छोड़कर भाग रहे थे। कुएं व जोहड़ सूख गए थे। चारों तरफ त्राहि-त्राहि मची हुई थी। लोगों को न पीने का पानी मिलता था न एक टेम की रोटी। युवकों के शादी विवाह बंद होने लगे थे। वे बड़े शहरों की तरफ भाग रहे थे। गांव में पड़े बूढ़े-बच्चे और महिलाएं कुपोषित हो चुके थे। महिलाओं का ज्यादातर समय इधर-उधर से पानी का जुगाड़ करने में बीतता था।

ऐसी स्थिति में तरुण भारत संघ ने उम्मीद की तलाश शुरू की। उसने गांव के बुजुर्गों से बातचीत की और आसपास के राजाओं के यहां तैयार व नष्ट हो रहे गंवई दस्तूरों का अध्ययन शुरू किया। इससे उनको पता चला कि 60 सेंटीमीटर सालाना वर्षा वाले इस क्षेत्र में पानी को जमा करने और धरती के पानी को रिचार्ज करने की सुदृढ़ व्यवस्था थी। इस तरह तरुण भारत संघ ने नष्ट हो रहे 'आर्किमिडीज के सिंद्धात' को पा लिया। संस्था ने इस ज्ञान पर पेटेंटिंग की कोशिश नहीं की। बल्कि गांवों के प्रयोगों

और अनुभवों से प्राप्त इस प्रौद्योगिकी के विस्तार की। जैसे तरुण भारत संघ पर धुन सवार हो गई। पहले साल में तो संस्था ने गोपालपुरा गांव में सिर्फ दो जोहड़ बनाए। लेकिन इन जोहड़ों से गांवों की जीवनी शक्ति जिस तरह बढ़ी वह पूरे इलाके में चर्चा का विषय बन गई। लोग संस्था के कार्यकर्ताओं से संपर्क करने लगे। वे अपने इलाके में जोहड़ बनाने का आग्रह करते और सहयोग का प्रस्ताव रखते। इस उत्सुकता को देखकर संस्था के लोगों ने 30 जनवरी 1986 से 12 फरवरी तक पदयात्रा की। इस दौरान इलाके में जोहड़ की संभावनाओं का पता लगाया और सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ भी लोगों को जगाया।

गोपालपुरा दरअसल मीणाओं का (अनुसुचित जनजाति) गांव है। और मीणा राजस्थान में तालाब व जोहड़ बनाने में निपुण माने जाते थे। संभवतः इसीलिए संस्था ने अपना प्रयोग वहीं से शुरू किया। बांध या जोहड़ बनाने के काम में एक तिहाई गांव वाले श्रमदान करते और दो तिहाई व्यय संस्था उठाती। बाद में वह जोहड़ या बांध गांव या उस व्यक्ति को सौंप दिया जाता जिसके अधिकार क्षेत्र में वह पड़ता। हैरत की बात यह है कि उनमें से किसी बांध या जोहड़ पर संस्था का नाम होने के बजाय या तो उस व्यक्ति का नाम दर्ज है जिसका वह खेत है या फिर उन्हें स्थानीय परंपरा में प्रचलित नाम ही दिया गया है। जैसे मेवालों का बांध, चोंतरे वाला जोहड़, बीसा वाला बांध, नया बांध या गोटे वाला बांध। गोपालपुरा गांव में तरुण भारत संघ ने प्राकृतिक संसाधनों के लिए आवर्ती ग्राम कोष बनवाया और सरकारी स्तर पर गठित ग्राम पंचायत के अलावा ग्राम सभाएं गठित की। जोहड़ व बांध निर्माण की इस प्रक्रिया में जहां पानी आया, खेती शुरू हो सकी, पेड़ हरे-भरे हुए वहीं गांव के संगठन भी जीवित हो उठे। दूसरे वर्ष में सरिस्का के बफर जोन का गांव मांडलवास भी गोपालपुरा की राह चल पड़ा। चार जोहड़ बनाए जाने के बाद तो यह गांव 'येई' यानी अनाज रखने की कोठरी बन गया। फिर देवरी, किशोरी, बाछड़ी और काला लांका जैसे गांव क्यों पीछे रहते।

लेकिन यह सब इतना आसान नहीं था। दरअसल गांव के गड़बड़ भूमि रिकार्ड व विकास दृष्टि इस दिशा में बाधक थे। गोपालपुरा गांव में जोहड़ बनने के दो साल के भीतर सिंचाई विभाग ने उन्हें तोड़ने के नोटिस दे दिए। पर गांव वालों का संगठन देख कर वे हिम्मत नहीं जुटा सके, दिसंबर 1988 में सरिस्का घूमने आए तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने वहां अपने मंत्रिमंडल की बैठक की। इस दौरान तरुण भारत संघ ने उन्हें इलाके की समस्याओं और जिला प्रशासन के इस रवैए के बारे में ज्ञापन दिया। जिला प्रशासन इस बात से चिढ़ गया। वह गोपालपुरा के जोहड़ों के आगौर यानी जलागम या जलदाता क्षेत्र में बंधुआ मजदूर बसाने लगा। उसने जोहड़ों के पानी के प्रभाव से उगे पेड़ों को कटवाकर वहां छह परिवार बसा भी दिए। स्थानीय सरपंच वगैरह भी जिला प्रशासन के पाले में खड़े हो गए। काफी जद्दोजहद और दिल्ली के कुछ वरिष्ठ पत्रकारों और पर्यावरणवादियों के हस्तक्षेप के बाद यह मामला सुलझा लेकिन जल्दी-जल्दी

ज्यादा से ज्यादा जोहड़ बनाने की धुन में जुटी संस्था का यह वर्ष (1988-98) बेकार हो गया। संस्था को इस दौरान गांव की अंदरूनी राजनीति का भी सामना करना पड़ा। फिर भी तीसरे वर्ष में ही अंगारी व भूरियावास के ग्रामीण जीवन में जोहड़ का चमत्कार हुआ। इससे न सिर्फ गेहूं की अच्छी फसल हुई बल्कि वहां जंगली पेड़ पौधे भी अपने आप उगने लगे। इतना ही नहीं पेड़ों पर पक्षियों ने घोसलें भी लगा लिए। जमीन का कटाव रुक गया और मिट्टी की उर्वरा शक्ति बढ़ने लगी।

इस दौरान गांव के बेकार लोगों को काम भी खूब मिला। छोटे-छोटे से छोटा जोहड़ बनाने में भी 20 मजदूरों को एक महीना लग जाता है। अगर दस दिन का श्रमदान निकाल दिया जाए तो 15 से 20 रुपये के बीच प्रतिदिन की मजदूरी की दर से करीब छह से सात हजार रुपए उस गांव को जाते है। कई बड़े बांध तो नौ महीनों में बनते हैं। अब तो संघ को विभिन्न संस्थाओं का योगदान मिलने लगा है जिससे वह इस तरह का भुगतान करने की स्थिति में है। पर जब नहीं थी तो उसके उत्साही कार्यकर्ताओं ने काम के बदले अनाज वाली योजना के तहत भी जोहड़ बनाए।

यह जोहड़ बनाने का सांतवा वर्ष चल रहा है। इस दौरान इस क्षेत्र के गांवों में सैंकड़ों 'गजधर' जी उठे हैं (पुराने जमाने में तालाब बनाने का दारोमदार गजधर पर ही होता था)। अब तो गांव वालों की मदद के लिए इंजीनियर भी आ गए हैं। पर चलती गांव वालों की है। गूजरों के लोसल में एक जोहड़ देखकर जिले के बड़े इंजीनियर ने कहा कि यह ठीक से नहीं बना है 'गांव बह जाएगा'। लेकिन गांव वाले अड़े रहे। थोड़े दिनों बाद जमकर पानी बरसा। और यहीं गांव और इंजीनियर का इम्तहान हो गया। जोहड़ ने खूब पानी बटोरा और उसका कुछ नहीं बिगड़ा। इससे लगता है कि गांव वालों के अनुभव अपने पर्यावरण और पारिस्थिकी के मामले में ज्यादा खरे हैं।

गांधी शांति प्रतिष्ठान से प्रकाशित 'आज भी खरे हैं तालाब' नामक पुस्तक की कुछ पंक्तियां उल्लेखनीय हैं :

सैकड़ों, हजारों तालाब अचानक शून्य
से प्रकट नहीं हुए थे। उनके पीछे एक
इकाई थी बनवाने वालों की, तो दहाई थी बनाने वालों की। यह इकाई दहाई मिलकर सैकड़ा
हजार बनाती थी। पिछले दो सौ बरसों में
नए किस्म की थोड़ी सी पढ़ाई पढ़ गए
समाज ने इस इकाई, दहाई, सैकड़ा
हजार को शून्य ही बना दिया।'

इन पंक्तियों में पारंपरिक ज्ञान का जहां अति विनम्रता से बखान किया गया है वहीं आधुनिकता पर संदेह भी। संदेह और प्रेम दोनों का अपना महत्व है। पर किसी

एक की रौ में बह जाना ठीक नहीं। लेकिन जोहड़ों में बहता हुआ जल बांधने वाला तरुण भारत संघ उसके प्रेम में बह जाता है। वह जोहड़ों की संस्कृति का सवाल उठाकर उन तमाम परंपराओं और मान्यताओं का बखान करने लगता है जो न विवेक की कसौटी पर सही बैठते हैं और न प्रासांगिक। क्या पंचांग से मुहूर्त निकाले बिना जोहड़ ठीक से नहीं बनेगा ? क्या बच्चे के जन्म पर जोहड़ के जल का पूजन न हो तो लोग जोहड़ का सम्मान नहीं करेंगे ? क्या गूलर के पेड़ में ब्रह्मा, पीपल में विष्णु और बरगद में शंकर का वास होने का विश्वास न पैदा किया जाए तो लोग पेड़ नहीं लगाएंगे ? क्या इन मान्यताओं से मुक्त होकर सामुदायिकता का विकास नहीं किया जा सकता ?

ऐसा तो नहीं कि आधुनिकता की बुराइयों की निंदा करते हुए लोगों को परंपरा की बुराई से बंधे रहने को उत्साहित किया जा रहा है ? क्या पर्यावरण रक्षा का आंदोलन आधुनिकता के भीतर से भी नहीं प्रस्फुटित हुआ है ? क्या तीसरी दुनिया में पर्यावरण रक्षा के लिए सबसे ज्यादा मदद विकसित देशों से नहीं आ रही है ? क्या हमें परंपरा में आधुनिकता और आधुनिकता में परंपरा की गुंजाइश बनानी पड़ेगी ? क्योंकि न ही परंपरा के अंधविश्वास के साथ चलना उचित है न ही आधुनिकता के।

लेकिन पारंपरिक दृष्टि से किए गए इस रचनात्मक काम से इतनी उर्जा पैदा हुई कि तरुण भारत संघ जैसा छोटा सा संगठन सरिस्का के खान माफिया से जा टकराया। यह जोहड़ बनाने का पांचवा वर्ष (1991-92) था। तिलवाड़ी गांव में जोहड़ों में पानी नहीं आया तो लोंगो को लग गया कि इन खानों के रहते न तो पानी को इकट्ठा कर पाना संभव है और न ही उस इलाके की जैविक वन्य संपदा बचाई जा सकती है। इस संघर्ष में संस्था ने जोहड़ों को खानों के विकल्प के रुप में पेश किया। ऐसा खनन जो कि मानव सभ्यता के विकास के लिए अति आवश्यक नहीं है वह भोगवादी और विनाशकारी है। उसकी तुलना में जोहड़ जहां खेतिहार व्यवस्था को स्वावलंबन देते हैं वहीं वे प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा भी करते है। किसी राष्ट्रीय नीति के बिना ही जो तालाब हमारे गांव-गांव और पुरवा ढांणी में कढ़े हुए थे। आज भी हम उनका कोई समर्थ विकल्प नहीं पेश कर सके हैं। ग्रामीण समाज बनाम औद्यागिक समाज की बहस चलाने वाले भी आज इनके महत्व को स्वीकार कर रहे हैं। इसलिए तालाबों और जोहड़ों का टिकाऊ ग्रामीण व्यवस्था का प्रतीक बन जाना स्वाभाविक है।

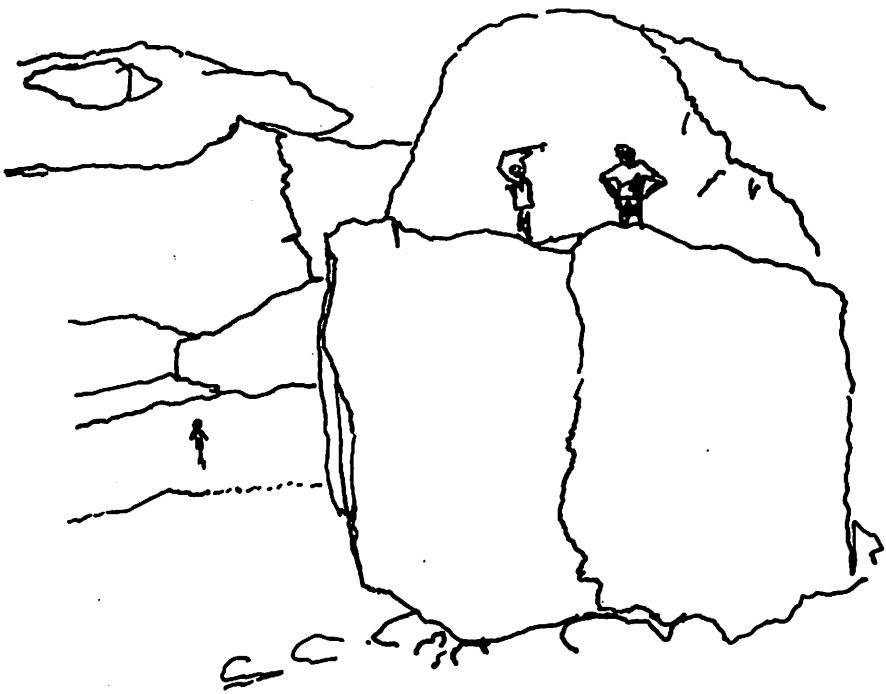

खानों से टकराते गांव

सरिस्का बचाओ आंदोलन विरोध की भावना से नहीं रचना के गर्भ से निकला है। हालांकि यह चिपको और नर्मदा आंदोलन जितना विशाल व पथ-प्रर्दशक नहीं है। और न ही उतने बड़े पैमाने पर बुनियादी मुद्दे को उठाने वाला है। लेकिन यह एक बड़े आंदोलन का अंकुर है। इसे हवा और धूप तो काफी मिल रही है अगर पानी और व्यापक जमीन मिले तो वट वृक्ष बनने में देर नहीं लगेगी। किसी के लिए सरिस्का बचाने का अर्थ बाघों को बचाने, किसी के लिए वन बचाने, किसी के लिए पहाड़ियां बचाने, किसी के लिए जोहड़ और बांध बचाने तो किसी के लिए स्थानीय लागरिकों के अधिकारों को बचाने से हो सकता है। लेकिन तरुण भारत संघ इन सारे मुद्दों को समग्रता में लेकर चल रहा है। वह इन सबके सह-अस्तित्व के लिए चिंतित है। इसीलिए सरिस्का आंदोलन की सफलता के बाद अपने दायरे को फैलाते हुए वह आज अरावली बचाने की बात कर रहा है।

सरिस्का आंदोलन न सिर्फ इस तथ्य को उजागर करता है कि हमारी विकास नीति में चंद लोगों का अल्पकालिक और संकीर्ण स्वार्थ है बल्कि यह भी कि वह लोगों और प्रकृति के लिए विनाशकारी है। इस आंदोलन ने सरकार की पर्यावरण नीति के ढकोसले और उसके ढुलमुलपन को उजागर करके रख दिया। इसने बता दिया कि विकास राजस्व

और रोजगार के नाम पर कितना झूठ बोला जाता है और कितनी धोखाधड़ी और भ्रष्टाचार किया जाता है। उसने यह भी बता दिया कि सरकार की अपनी संस्थाएं संकीर्ण स्वार्थों के लिए एक दूसरे का लिहाज भी नहीं करतीं। इतना ही नहीं इस आंदोलन ने उन लोगों की भी कलई खोल दी जो सबसे ज्यादा भारतीय संस्कृति की रक्षा का ढिंढोरा पीटते हैं। वे चंद लोगों को खान मालिक बनाकर रातोंरात करोड़पति बना देना चाहते हैं ताकि अगले चुनाव में उनकी थैलियां खुली रहें। वे चाहते हैं महानगरों में नवधनाढ्यों की ताजमहल जैसी कोठियां बनाने के लिए राज्य से संगमरमर जाए और राज्य को राजस्व मिले। जिससे सड़के बनें और परियोजनाएं शुरू हों। फिर कुछ लोग अमीर बनें और ऐन वक्त पर काम आएं। इस दौरान गांव के लोग किसानी जैसा पिछड़ा कर्म छोड़कर खानों और सड़कों पर मजदूरी जैसा उन्नतशील काम करते नजर आएं। अपने इस तात्कालिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए वे नियम कानून तोड़ने से लेकर उस आर्यावर्त की भुजा अरावली को तो भी तोड़ने से भी नहीं हिचकिचा रहे हैं जिन पर उनके स्वाभाविक राष्ट्रवाद की सारी राजनीति टिकी हुई है। क्या अरावली, हिमालय और नर्मदा को नष्ट करके और अयोध्या, मथुरा और काशी में मंदिर बनाकर, वे भारतवर्ष को बचा सकेंगे?

इतनी विपरीत स्थितियों के बावजूद इस व्यवस्था की बुझी राख में सामाजिक न्याय की थोड़ी बहुत चिनगारियां बाकी हैं। वे कभी न्यायपालिका से निकल आती हैं कभी कार्यपालिका से, तो कभी किसी दल या व्यक्ति के निजी हितों से। पर यहां विकास से निकले कचरे के एक दो ढ़ेर नहीं बड़े-बड़े पहाड़ हैं। एक बड़े सफाई अभियान के बिना उनसे मुक्त नहीं हुआ जा सकता।

गढ़वाल की पहाड़ियों की तरह अरावली की पहाड़ियों में धरती के ऊपर उतने कीमती रत्न नहीं है जितना धरती के नीचे। यहां ओक या चीड़ के वृक्ष नहीं है जिन्हें काटकर क्रिकेट के बल्ले या बैडमिंटन के रैकेट बनें। पर कई प्राचीनतम पत्थरों और खनिजों के अलावा संगमरमर व डोलामाइट के वे पत्थर हैं जिनसे महानगरों के नवधनाढ्य अपना ताजमहल बनाने का सपना पूरा करते हैं। लेकिन इस आंदोलन का जन्म सरिस्का क्षेत्र के खनिज में हिस्सा मांगने से नहीं हुआ। जैसा कि चंडी प्रसाद भट्ट के नेतृत्व में बनी दशोली ग्राम सेवक संघ शुरू में जंगल विभाग से गोंद, रेजिन और कुछ लकड़ियां मांग रहा था। लेकिन जंगल विभाग उन्हें इतनी सामान्य चीजें भी देने को तैयार न था जबकि बड़े-बड़े ठेकेदारों के सामने ओक के जंगल परोस रहा था। और इसी भेदभाव से स्थानीय नागरिकों में पहले ठेकेदारों से जंगल को बचाने फिर पर्यावरण के लिए जंगल को बचाने की चेतना निकली।

सरिस्का में धरती के ऊपर भी पत्थर हैं पर वे गरीबों के मकान में लगने वाले हैं और उन्हें खोदने के लिए सामान्य कुदाली काफी है। उनसे कोई स्थायी नुकसान भी नहीं होता। गांव वाले घर बनाने के लिए इन्हीं पत्थरों का प्रयोग करते हैं। इसमें गांव

की गरीबी और पिछड़ेपन का महिमामंडन भी लग सकता है। कहा जा सकता है कि चूंकि गांव वाले धरती के नीचे का संगमरमर नहीं निकाल सकते इसलिए ऊपर का सामान्य पत्थर प्रयोग करते हैं। लेकिन जब वे ही गांव वाले संगमरमर के इन रत्नों में हिस्सा मांगने के बजाय इनका खनन बंद करने की मांग करते हैं तो जाहिर हो जाता है कि पर्यावरण रक्षा और स्थानीय नागरिकों के अधिकार कितने जुड़े हुए हैं।

तिलवाड़ी गांव में छोटेलाल मीणा और श्योनारायण एक जोहड़ बनाने में अथक परिश्रम कर रहे थे। लेकिन वहां कुओं में पानी का स्तर नहीं बढ़ा। बढ़ता भी कैसे, उनके कुओं का पानी तो लगातार गहरी होती जा रही खानें खींच रही थीं। यहीं से खनन के खिलाफ गांव वालों का संचित आक्रोश फूटने लगा। पिछले 10 सालों में वे देख रहे थे कि खान मालिक सामान्य व्यापारी से करोड़पति बनते जा रहे थे और गांव वाले किसान से खान मजदूर। मजदूरी से जो कुछ उन्हें मिलता था वह शराब के ठेकेदारों और डाक्टरों की जेब में लौट जा रहा था। उनकी सांसों में संगमरमर की धूल थी और चट्टानों पर उनके खून के छींटे। वे एक डाल काट लेते तो चोर कहे जाते और सैंकड़ों एकड़ वनों और पहाड़ों को नष्ट करने वाले राष्ट्र निर्माता बन गए थे। वे नहीं समझ पा रहे थे कि सरिस्का बाघ परियोजना और ये खनन एक साथ कैसे चल सकते हैं। लेकिन राजस्थान सरकार 'चोर को चोरी और शाह को जगने' की प्रेरणा एक साथ दे रही थी।

तरुण भारत संघ कई महीनों तक छानबीन करने और तथ्य जुटाने के बाद इस नतीजे पर पहुंची कि सैंकड़ों खानें अवैध हैं। इसी बिना पर 1991 में सुप्रीम कोर्ट में एक याचिका डाल दी गई। 11 अक्टूबर 1991 को सुप्रीम कोर्ट ने 262 खानों में काम बंद करने का स्थगन आदेश दे दिया।

इसी आदेश के साथ सुप्रीम कोर्ट ने राजस्थान हाईकोर्ट के पूर्व न्यायाधीश एम एल जैन की अध्यक्षता में एक पांच सदस्यीय समिति बनाकर उसे यह तय करने का जिम्मा दिया कि ये खानें संरक्षित वन क्षेत्र में पड़ती हैं या उसके बाहर। दरअसल सरिस्का राजस्थान वन्य प्राणी और पक्षी संरक्षण अधिनियम 1991 के तहत बाघ परियोजना क्षेत्र, 1972 के वन्य जीव संरक्षण अधिनियम के तहत अभ्यारण और राष्ट्रीय पार्क और 1953 के वन कानून के तहत संरक्षित वन घोषित है। इन कानूनों के मुताबिक इस क्षेत्र में खनन वर्जित है। संरक्षित वन क्षेत्र का मतलब है कि वहां गैरवनीय गतिविधियां नहीं हो सकतीं। इसका उद्देश्य न सिर्फ वहां की खाली पड़ी जमीन को बचाना है बल्कि उस पर वन लगाना भी है। वन संरक्षण अधिनियम 1980 की धारा दो और राजस्थान खनिज रियायत नियम 4(6) के तहत संरक्षित वन क्षेत्र में केन्द्र सरकार के अनुमति के बिना कोई खनन नहीं हो सकता और इस खनन के लिए ऐसी अनुमति नहीं ली गई थी।

सुप्रीम कोर्ट ने जैन समिति को यह पता लगाने का आदेश दिया कि क्या ये सारी खानें संरक्षित वन क्षेत्र में है। समिति से यह भी कहा गया कि वह खनन से इस क्षेत्र के पर्यावरण पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों का अध्ययन करे।

अदालत को समिति नियुक्त करने की इसलिए जरूरत पड़ी क्योंकि राजस्थान सरकार और खान मालिकों का कहना था ये खानें संरक्षित वन क्षेत्र में नहीं हैं। उन लोगों का यह भी कहना था कि राजस्थान सरकार ने जनवरी 1975 की जिस अधिसूचना के तहत उस इलाके को संरक्षित वन क्षेत्र घोषित किया था वह अंतरिम अधिसूचना थी और अभी तक संरक्षित वन क्षेत्र का सीमांकन नहीं हो सका है। लेकिन यह सब दलीलें दिशा भ्रमित करने और अपने कारनामों को ढकने के लिए थीं, राजस्थान सरकार का यह कहना कितना हास्यापद लगता है कि वह जिस इलाके को संरक्षित वन क्षेत्र घोषित कर रहा है उसका मानचित्र उसे मालूम नहीं। एक राज्य सरकार की यह दलील भी शर्मनाक लगती है कि उसे नहीं मालूम कि वह जिस इलाके में खानों के पट्टे जारी कर रहा है वह संरक्षित वन क्षेत्र में पड़ता है। दरअसल यह सामान्य भूल का मामला नहीं था बल्कि इसमें फरेब और गहरी साजिश थी जिसमें राजस्थान सरकार, वहां के प्रमुख राजनैतिक दल, अफसरशाही और खान मालिक एक साथ शामिल हैं। सुप्रीम कोर्ट के स्टे के बावजूद अवैध खनन को रोकने के बजाय नये खानों के पट्टे दिये जाना इस बात का सबूत है। बाद में राजस्थान सरकार की तरफ से अदालत में यह मांग करना कि खान वाले क्षेत्र को लेकर 5.02 वर्ग किलोमीटर को संरक्षित वन क्षेत्र से अलग कर दिया जाए, भी इसी प्रस्थापना की पुष्टि करता है। अन्त में अगर कोई सन्देह बचता था तो उसे पर्यावरण सम्बन्धी अधिसूचनाओं के खिलाफ भैरो सिंह शेखावत हरदेव जोशी और गिरिजा व्यास ने मुहिम चलाकर दूर कर दिया। गौर तलब है कि ये लोग खान मालिकों की इस बन्दूक को मजदूरों के कन्धों पर रखकर चला रहे थे।

लेकिन जैन कमेटी की रपट ने इन झूठे दावों की कलई खोल दी और सुप्रीम कोर्ट ने उसे मानकर खान मालिक राजनेता और अफसरशाही के लौहपास को करारी चोट पहुंचायी।

वैसे सरिस्का बचाओ आंदोलन की कथा में रहस्य रोमांच के कई प्रसंग हैं। इसमें सत्याग्रह भी है और हिंसा भी। बदनामी भी है और नेकनामी भी। कभी हार के क्षण दिखाई देते हैं तो कभी जीत के। कभी राजस्थान के खान विभाग और वन विभाग आमने सामने दिखाई पड़ते हैं तो कभी केन्द्र और राज्य सरकार। इसमें एक तरफ किसान और वनवासी खान माफिया से लड़ते दिखाई देते हैं तो दूसरी तरफ मजदूर किसानों से। कहीं बाघ और आदमी आमने-सामने दिखते हैं कहीं एक साथ। वनवासियों और जंगल विभाग में टकराव है तो कहीं सहयोग। कहीं वन अधिकारी बहुत चुस्त दिखाई पड़ते है तो कहीं भ्रष्ट। कभी राज्य सरकार पर्यावरण और वन कानूनों को उल्लघंन करती दिखती है तो कभी न्यायपालिका का। कभी केंद्र सरकार पर्यावरण के प्रति गहरी चिंता प्रकट करती है तो कभी विकास के प्रति। कभी वह पर्यावरण रक्षा के लिए कड़े कानून पास करती है तो कभी उसे वापस लेती है। सही और गलत और सच्चे और झूठे की पहचान करना

मुश्किल हो जाता है। लेकिन अगर हम आखिरी आदमी के हितों की पहचान कर सकते हैं, यह सोच सकते हैं कि यह धरती सिर्फ आदमी की नहीं अन्य प्राणियों की भी है। और यह भी कि भविष्य की पीढ़ी को यह धरती रहने लायक मिलनी चाहिए तो हमें भ्रष्टाचार और भोगवाद से निकले तमाम तर्कों के कुहासे को छांटने में दिक्कत नहीं होगी। फिर हम रोजगार, राजस्व और विकास के झांसे में नहीं आएंगे। वैसे इन लोगों से दार्शनिक स्तर पर निपटने की जरूरत ही नहीं पड़ती। ये अपने ही बनाए कानूनों की वजह से झूठ की खदानों में गिरते रहते हैं। यहां ऐसा ही हुआ। न्यायमूर्ति एम एल जैन की कमेटी ने खान मालिकों के इस झूठ का पर्दाफाश कर दिया कि संरक्षित वन क्षेत्र या सरिस्का बाघ परियोजना की सीमाएं चिन्हित नहीं है। राजस्थान के राजस्व विभाग और वन विभाग के नक्शे चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे यहां संरक्षित वन क्षेत्र में खनन हो रहा है। जब राजस्थान सरकार फंसती दिखी तो उसने दलील फेंकी कि संरक्षित वन क्षेत्र धोषित करने की अधिसूचना अभी अंतरिम है। फिर उसने किसी भी हिस्से को वन क्षेत्र से अलग करने की अपने अधिकारों की दुहाई दी। हालांकि ये सब दलीलें सुप्रीम कोर्ट ने ठुकरा दीं पर इस कानूनी दांवपेंच के पीछे हो रही सामाजिक राजनैतिक घटनाओं को जाने बिना खान माफिया का वास्तविक चरित्र नहीं समझा जा सकता।

26 नंवबर 1991 को जब जैन कमेटी खानों का मुआयना कर रही थी तो कालवाड़ फारेस्ट ब्लाक के पास खान समर्थकों ने तरुण भारत संघ के मंत्री राजेंद्र सिंह की जिलाधीश की गाड़ी से खींचकर पिटाई की। जबकि उस वक्त वहां पुलिस और प्रशासनिक अधिकारियों का अच्छा जमावड़ा था। बाद में तरुण भारत संघ के आश्रम में उनके वकील राजीव धवन पर भी हमला हुआ। खान मालिकों ने उस अस्पताल को भी बंद करा दिया जो तरुण भारत संघ गरीबों विशेषकर खान मजदूरों के लिए चला रहा था। हालांकि बाद में दो हमलावरों को सजा भी हो गई पर सुप्रीम कोर्ट का स्टे बेअसर था। खानें न सिर्फ चल रही थीं बल्कि धमाके के साथ कानून की धज्जियां उड़ा रही थीं। सुप्रीम कोर्ट के स्टे बावजूद राज्य सरकार के खान विभाग ने 61 खानों को पट्टे जारी किए।

दूसरी तरफ जैन कमेटी जिसे 31 दिंसबर 1992 तक अपनी रपट सौंप देनी थी लगातार बिलंब करती जा रही थी। हालांकि 19 जनवरी 1992 को उसने अंतरिम रपट सौंपी पर अंतिम रपट 28 सिंतबर 1992 को तक पेश कर पाई। इस दौरान गहरी लामबंदी और अनिश्चितता का दौर शुरू हो गया। मजदूर यूनियनें सक्रिय हो गई थीं। वे खान बंद कराने की कोशिशों को मजदूरों की रोटी छीनने को प्रयास बता रही थीं। हजारों मजदूरों के बेरोजगार होने की आंशका जताई जा रही थी। खान मालिक इस बात की पुरजोर कोशिश कर रहे थे कि स्टे आदेश लागू न हो सके। राज्य सरकार और अफसरशाही उनकी मुट्ठी में थी। इस दौरान राज्य विधान सभा ने पर्यावरण के प्रति चिंता जताई। लेकिन वह चिंता कितनी पांखड़पूर्ण थी इसका खुलासा तब हो गया जब प्रमुख राजनैतिक

दल पर्यावरण से ज्यादा राज्य के राजस्व को लेकर चिंतित दिखे। यहां तक कि कानूनी लड़ाई लड़ रही संस्था तरुण भारत संघ पर सीआईए का एजंट तक होने का आरोप लगा। इस आरोप को विधानसभा ने गंभीरता से ले लिया और छह अप्रैल 1992 को एक नौ सदस्यीय सर्वदलीय समिति बना डाली। दिखाने के लिए उसके दायरे में अवैध खनन की जांच करना भी शामिल था। सर्वदलीय समिति ने जांच के नाम पर संस्था को भरसक प्रताड़ित किया। पर किसी ठोस नतीजे तक नहीं पहुंच सकी। लेकिन विदेशी मदद को लेकर खूब लांछित किया।

इस बीच केंद्र सरकार ने दो महत्वपूर्ण अधिसूचनाएं जारी कर दीं। इनमें एक अधिसूचना 29 जनवरी 1992 को जारी हुई जो पूरे देश पर लागू की जानी थी। इसमें संरक्षित वन क्षेत्र से 10 किलोमीटर और अभयारण्य से 25 किलोमीटर के दायरे में लगाई जाने वाली परियोजनाओं और खनन व निर्माण के लिए उसके आकार के मुताबिक क्रमशः राज्य और केंद्र सरकार से अनापत्ति प्रमाण पत्र लेना जरूरी बना देने का प्रस्ताव था। दूसरी अधिसूचना सात मई 1992 को जारी हुई। यह पर्यावरण संरक्षण अधिनियम की धारा तीन के तहत थी। यह गुड़गांव और अलवर जिलों के अरावली क्षेत्र में अंधाधुंध खनन व निर्माण को रोकती थी। इन अधिसूचनाओं ने आमने-सामने की स्थिति पैदा कर दी। दूसरी अधिसूचना ने प्रोजक्ट टाइगर और संरक्षित वन क्षेत्रों या अन्य किसी किस्म के वन क्षेत्र में केंद्र सरकार की अनुमति के बिना खनन और भवन निर्माण को प्रतिबंधित कर दिया। इसमें सरिस्का अभयारण्य को भी साफ तौर पर शामिल किया गया। इससे जहां खनन से पीड़ित गांव वालों और सरिस्का के बाघों और वन्य जीवों को जीवन की उम्मीद दिखी वहीं खान माफिया बौखला उठा। वे राजनेता अधिसूचना के विरोध में खुलकर आ गए जो बयानों में पर्यावरण रक्षा का नारा लगाते थे और व्यवहार में खान मालिकों की पीठ थपथपाते थे। मुख्यमंत्री भैरो सिंह शेखावत ने इस अधिसूचना का कड़ा विरोध किया।

कुछ स्थानीय अखबारों ने लिखा कि राज्य में 'वर्ग संघर्ष' की स्थिति बन गई है। हालांकि वे 'वर्ग संघर्ष' की परिभाषा से अनभिज्ञ लगते थे क्योंकि यहां मजूदर मालिकों से खिलाफ नहीं उनके साथ थे। यह खान मालिकों और किसानों के बीच संघर्ष था। यह शहरी और ग्रामीण हितों के बीच संघर्ष था। यह कानून की रक्षा करने वालों और उनका उल्लंघन करने वालों के बीच संघर्ष था। यह विकास और ग्रामीण व्यवस्था और पर्यावरण व विकास नीति के बीच संघर्ष था।

जैन कमेटी ने 28 सितंबर 1992 को यानी एक करीब एक साल बाद सुप्रीम कोर्ट को अपनी रपट दी। पांच सदस्यीय जैन कमेटी के एक सदस्य व पर्यावरणविद अनिल अग्रवाल ने रपट पर दस्तखत नहीं किया। उनका कहना था कि 19 अगस्त 1992 के बाद उन्हें कमेटी की बैठकों में हिस्सा नहीं लेने दिया गया। बाकी बचे चार सदस्यों में

चेयरमैन न्यायमूर्ति एम एल जैन का कहना था कि संरक्षित वन क्षेत्र में पूरी तरह पड़ने वाली 215 खानों को तुरंत बंद कर दिया जाए। इसके अलावा जो 47 खानें आंशिक रूप से संरक्षित क्षेत्र में पड़ती हैं उनके उस हिस्से को बंद कर दिया जाए जो संरक्षित वन क्षेत्र में हैं। जबकि तीन और सदस्यों ने अपनी रपट में यह तो माना कि ये खानें संरक्षित वन क्षेत्र में पड़ती हैं लेकिन उनका सुझाव था कि राज्य सरकार के इस प्रस्ताव को मान लिया जाए कि उन 262 खानों को वन क्षेत्र से अलग कर देना चाहिए। ये सुझाव देने वाले थे अतिरिक्त खान निदेशक उदयपुर एसके हावा, मुख्य वन संरक्षक उदयपुर वीडी शर्मा और अलवर के कलेक्टर विनोद जुत्शी। जरा गौर से देखिए कि यह सुझाव देने वाले सारे अफसर थे। खान विभाग संबंधी अफसर का ऐसा सुझाव स्वाभाविक लगता है पर वन और वन्य जीवों के संरक्षक भी ऐसा सुझाव दे बैठे। एक सिरे से राज्य सरकार अफसरशाही और खान मालिकों का एक ही इरादा लगता है कि सरिस्का में खनन हो। जैसे इतना विनाश हो चुका है वैसे थोड़ा और हो जाए। हां, अगर ऐसा करना गैर कानूनी है तो उसे किसी तरह वैध बना दिया जाए। उन्हें इस बात की भी चिंता नहीं थी कि उस महत्वाक़ांक्षी सरिस्का बाघ परियोजना का क्या होगा जो उनके वर्ग का शगल है। सरिस्का में 1988 में 43 बाघ थे पर खनन विस्फोट और जंगल कटाई के चलने 1991 में 18 रह गए थे। योजना आयोग के तत्कालीन सलाहकार और आजकल पिलानी में बिड़ला शोध संस्थान में रिमोट सेंसिंग (दूर संग्राही) विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर एस एस ढाबरिया ने मार्च 92 में आयोग उपाध्यक्ष प्रणव मुखर्जी को वनों की कटाई और खनन के खिलाफ चेताया था। उनका कहना है कि अरावली में खुदाई और वनों की कटाई से आज सिर्फ उस विशेष इलाके में पानी की कमी, जानवरों के मरने और पर्यावरण बिगड़ने की समस्या है लेकिन अगर यह सब कुछ जारी रहा तो दिल्ली, हरियाणा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के पर्यावरण को बिगड़ने का खतरा मंडरा रहा है। उन्होंने अपनी दो किताबों में उपग्रह से लिए गए चित्रों और आंकड़ों के माध्यम से साबित किया है कि किस तरह पहाड़ियों कटने के बाद थार का रेगिस्तान पूर्व की तरफ बढ़ रहा है और इस क्षेत्र में वर्षा और गर्मी का चक्र बिगड़ गया है।

एक तरफ खनन से होने वाले विनाश के प्रति ये अहसास बढ़ रहा था दूसरी तरफ खानों का फायदा उठाने वाले अपने हितों की रक्षा के लिए सभी तरीके अपना रहे थे। दोनों तरफ लामबंदियां हो रही थीं। और सुप्रीम कोर्ट के आदेश का खुला उल्लंघन चल रहा था। तरुण भारत संघ लोगों को लगातार जागृत कर रहा था। उसने मार्च 92 भ्रतरी में पर्यावरण संरक्षण यज्ञ करके खानें बंद कराने का निर्णय ले लिया। पर सुप्रीम कोर्ट में हलफनामा दायर करने या राजगढ़ मुंसिफ मजिस्ट्रेट के यहां से पालपुर की खानें बंद कराने का आदेश जारी करवाने से आगे कुछ नहीं हुआ। हो सकता है इस दौरान तरुण भारत संघ राजनैतिक लड़ाई के लिए अपनी ताकत तौल रहा था या वह उस

पर्यावरणवादी दृष्टि का शिकार रहा है जिसमें राजनीति से परहेज किया जाता है। गांवों में संस्था की पैठ तो थी ही और उसने जोहड़ बनाने और जंगल बचाने के लिए जो ग्राम सभाएं गठित कर रखी थीं वे उसका जनाधार थीं। इस बीच छह दिसंबर की अयोध्या घटना के नतीजतन भैरो सिंह शेखावत की सरकार भी जाती रही।

इन स्थितियों ने संस्था का हौसला बढ़ाया और उसने जनवरी में राजनैतिक जंग का एलान कर दिया। तब तक सात मई 1992 वाली अधिसूचना भी पक्की हो चुकी थी। हालांकि 29 जनवरी 1992 वाली अधिसूचना को संशोधित करके केंद्र ने 28 जनवरी 1992 को नई अधिसूचना जारी कर दिया गया। जिसमें सुग्राही क्षेत्र का दायरा 25 और 10 किलोमीटर से घटाकर 10 और पांच किलोमीटर कर दी गई। यह खान लाबी के दबाव का परिणाम था। इस अधिसूचना पर भी राजस्थान के राज्यपाल ने छह महीने तक रोक लगा दी।

तरुण भारत संघ की अगुआई में नौ गांव के लोगों ने प्रशासन और खान मालिकों को अल्टीमेटम दे दिया कि अगर अवैध खनन बंद नहीं हुआ तो वे 25 जनवरी से खुद खनन बंद कराएंगे। इसमें मल्लाना, गोवर्धनपुरा, तिलवाड़, तिलवाड़ी, पालपुर, कालवाड़, बल्देवगढ़ रामपुरा, और रामजी का गुवाड़ा गांव शामिल थे। दूसरी तरफ खान मालिक, मजदूर और भाजपा व कांग्रेस वाले एक हो गए थे। शायद इतिहास में पहला मौका हो जब खान मालिक और मजदूरों में इतना भारी सहयोग दिखा हो। जहां बाल मजदूरी व शोषण के खिलाफ और मजदूरों के दूसरे अधिकारों के लिए पिछले आठ सालों में कोई संगठन न बना हो वहां अचानक सरिस्का खान मजदूर संघ का गठन हो गया और खान मालिक संघों का बनना तो स्वाभाविक ही था। इधर भैरो जी भी राजकाज से मुक्त हो गए थे और उन्हें अगले चुनाव के लिए मोटा असामी पाले रखना था। इसलिए वे खान वालों की भरपूर मदद कर रहे थे।

गांव वालों के अनुरोध और चेतावनी की जो उपेक्षा पिछले डेढ़ सालों से हो रही थी वही इस बार भी हुई और गांव वालों ने 25 जनवरी से सत्याग्रह शुरू कर दिया। मल्लाना गांव ने अगुआई की। उनके मशहूर बांध में खानों के विस्फोट से दरार जो पड़ी थी। सरपंच पांचूराम ने तरुण भारत संघ की मदद से गांव के बूढ़ों और बच्चों तक को संघर्ष में झोंक दिया।

तालाबों और जोहड़ों की निर्माता मीणा जाति ने सत्याग्रह में जोरशोर से हिस्सा लिया। अखिल भारतीय राजस्थान मीणा छात्र संघ के अध्यक्ष हरलाल मीणा, व अन्य पदाधिकारियों शैलेंद्र राज मीणा और सुमन मीणा ने विशेष योगदान दिया। देवरी गांव के जगदीश मीणा और तिलवाड़ी गांव के छोटेलाल मीणा तो आंदोलन के आधार स्तंभ थे। पालपुर ग्राम सभा के अध्यक्ष श्रवण पटेल और अनिल कुमार जैसे लोगों ने मुस्तैदी से मोरचे संभाले। गांव के लोगों नै खानों पर मजदूरी करना बंद कर दिया। उन सड़कों पर धरना देकर बैठ गए जिन से होकर खानों का माल बाहर जाता था। लोगों ने जाड़े की खेस उतार फेंकी और आंदोलन की ऊष्मा से बेपरवाह हो गए।

इस सत्याग्रह को तोड़ने की बहुत कोशिशें हुई। मजदूरी करने वाले गांव के युवाओं को रोजी रोटी का नाम लेकर उकसाया गया। कुछ लोग कुनमुनाए भी, पर खानों से जुड़ी दर्द भरी दास्तानें बहुत ज्यादा थीं। हर आदमी के अपने अपने हादसे थे। फिर गांव के बुजुर्गों ने अपनी नष्ट होती संस्कृति और पर्यावरण को बचाने की ठान ली थी। इसलिए गांव के युवक अपने समाज के खिलाफ खड़े नहीं हो सके। हालांकि खानों में बाहरी मजदूर भी बड़ी संख्या में लगे थे लेकिन इतने बड़े विरोध के आगे वे सब भी खामोश थे।

गांव वाले डट गए थे कि जब तक विस्फोट और पत्थरों की ढुलाई बंद नहीं होगी वे हटने वाले नहीं हैं। लोग खास-खास नाकों पर दिन रात जमे रहे। कभी कभी ट्रक किनारे के कच्चे रास्ते से निकलने की कोशिश करते तो लोग उसे घेर लेते। खानों पर जा जाकर काम बंद करने को कहते। इस बीच सुप्रीम कोर्ट के आदेश की लाज रखने के लिए प्रशासन भी थोड़ा बहुत हरकत में आंया। 25 जनवरी से 27 मार्च तक यानी करीब दो महीने सत्याग्रह चलता रहा। मालिकों को मजबूरन खाने बंद करनी पड़ी और गांव वालों ने अपना आंदोलनों खत्म किया। आठ अप्रैल 1993 को सुप्रीम कोर्ट न्यायमूर्ति एम एल जैन की सिफारिशों को मानते हुए 217 खानें पूरी तरह बंद करने और 47 खानें उस सीमा तक जितना वे संरक्षित क्षेत्र में पड़ती है बंद करने का आदेश दिया। साथ में यह भी चेतावनी कि सात मई 1992 की अधिसूचना के तहत संरक्षित वन क्षेत्र के बाहर किंतु सरिस्का बाघ परियोजना के भीतर स्थित खदानें केंद्र सरकार के पर्यावरण और वन मंत्रालय की अनुमति के बिना नहीं चल सकती इसलिए उनके लिए भी चार महीनें के भीतर अनुमति ले लें। वरना उन्हें भी बंद करना पड़ेगा।

इस कानूनी लड़ाई में फिलहाल पर्यावरण का पक्ष जीतता भले दिखाई दे रहा हो पर लड़ाई अभी खत्म नहीं हुई है। बल्कि शुरू हुई है। कानून बनाने और उन्हें लागू करवाने की जरूरत तो है पर असली जरूरत उस विकास नीति को बदलने की है जिसमें हर चीज को राजस्व और विदेशी मुद्रा के पैमाने से नापा जाता है। जिसमें हर नया कानून अमीरों के लिए गुंजाइंश और गरीबों के लिए मुसीबत लेकर आता है। पर्यावरणवादी संगठनों से अचानक राजनीति करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती पर राजनीति से परहेज न करने की अपील तो की ही जा सकती है। इसी तरह राजनैतिक दलों से भी यह अपील करने का समय आ गया है कि वे पर्यावरण के सवालों को अराजनैतिक मुद्दे की श्रेणी में न पड़ा रहने दें। हर राजनैतिक दल अपनी पर्यावरण नीति बनाए और इन सवालों पर चुप रहने या सत्ता के साथ संगत करने की आदत छोड़े।

तिलवाड़ी गांव में फिर जोहड़ बनने लगे हैं। आसपास के गांवों में भी जोहड़ व बांध बन रहे है। इसका एक मकसद खान बंद होने से बेरोजगार हुए लोगों को रोजगार भी देना है। सरिस्का एक नमूना है। अब दिल्ली से हिम्मतनगर तक 682 किलोमीटर लंबी अरावली को बचाने का समय आ गया है। ऐसा ही आंदोलन इस पूरे क्षेत्र में फैले तभी शायद विनाश रुके।

सामलात देह से सबका भला

पहलें वनों की रक्षा शुरू हुई या सामलात देह की। इस बारे में ठीक-ठीक से कह पाना तो मुश्किल है पर चूंकि वन किसी भी समुदाय के लिए सबसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन या सामलात देह हैं। इसलिए हो सकता है सामलात देह की अवधारणा इन्हीं की रक्षा से विकसित हुई हो। फिर धीरे-धीरे गोचर, चरागाह, तालाब, पोखर, गुल, जोहड़, कूप, बापी और देव वनी, कांकड़ वनी जैसी विभिन्न तरह की सामलात देह के रखरखाव की दृष्टि। सामुदायिक संसाधन या सामलात देह ग्रामीण व्यवस्था का आधारभूत ढांचा है। इनसे पूरे गांव की गर्भनाल जुड़ी होती है उनके रखरखाव से गांव के अमीर-गरीब सबका भला होता है लेकिन इनके नष्ट होने का सबसे ज्यादा दुष्प्रभाव गरीबों पर ही होता है। सामलात देह अकाल व बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाओं के खिलाफ गांववासियों का कवच भी है और उनके सामाजिक-आर्थिक जीवन की धुरी भी।

लेकिन विकास, वन कानूनों, भूमि सुधार कानूनों और खेती के आधुनिकीकरण के साथ सामलात देह नष्ट हो रही हैं। उन्हें या तो सरकार हड़प ले रही है या निजी संपत्ति बढ़ाने की लालसा में गांव के दबंग लोग। एक तरफ कानूनी तरीके से सामलात देह का विनाश हो रहा है, दूसरी तरफ गैरकानूनी तरीके से। सामलात देह अगर थोड़ी बहुत बची भी है तो सामुदायिकता खत्म होने के नाते वह भी रखरखाव की मोहताज है।

जोहड़ बनाते और जंगल बचाते हुए तरुण भारत संघ अब इस पूरे इलाके में गांव वालों को सामलात देह बचाने के लिए संगठित कर रहा है। उसने सामलात देह की चेतना जगाकर इस क्षेत्र के कई गांवों को सूखा जैसी आपदाओं से बचाया है और उन्हें टिकाऊ विकास के रास्ते पर डाला है। जंगलों को बचाने से गांव वालों की खेती तो बची ही उनका पशुपालन का धंधा भी पुनर्जीवित हो गया है। लेकिन यह सब काम आसान नहीं था और आगे भी बहुत टिकाऊ नहीं दिखता। क्योंकि बचाने की जिम्मेदारी तो वन विभाग पर डाल दी गई और गांव के लोग व उनके जानवर जंगल के दुश्मन मान लिए गए हैं। इसलिए गांव वालों का जंगल में रहना तो अपराध है ही और उसे बचाने की कोशिश तो और बड़ा जुर्म। आरक्षित वन क्षेत्र में स्थानीय लोगों को कोई अधिकार नहीं है और संरक्षित वन क्षेत्र में भी बहुत सीमित अधिकार दिए गए हैं। सरकार जंगलों की मालिक बन बैठी है और इस तरह गांव वालों (वनवासियों) पर हमेशा विस्थापन की तलवार लटकती रहती है। जंगल वाले गांव वालों को चोर बनाकर हर साल हजारों की रिश्वत ऐंठते रहते हैं और उन्हें धमकाते रहते हैं कि तुम्हारे ढोर डंगर ज्यादा बढ़ गए हैं इन्हें कम करो वरना यहां से भगा दिए जाओगे। इतने सख्त कानून के बावजूद जंगल कट रहे हैं और सरिस्का का एक बड़ा हिस्सा वन विहीन हो चुका है। आखिर क्यों ? क्योंकि जंगल गांव वाले उतना नहीं काटते जितना वन विभाग के अधिकारी और कर्मचारी कटवाते हैं। उससे भी कहीं ज्यादा जंगल सरकार की तरफ से मंजूर परियोजनाओं और खानों के कारण नष्ट होते हैं। लेकिन दोषी सिर्फ वनवासी बताए जाते हैं। जैसे भेड़िए ने मेमने से कहा था कि तू मेरा पानी जूठा कर रहा है। है न जंगल की रक्षा के लिए 'जंगल कानून'।

इन अंतर्विरोधों व आडंबर भरे माहौल में सरिस्का के गांव वालों ने जंगल और अपने अस्तित्व के लिए लड़ाई छेड़ने का संकल्प लिया। दोनों के हित जो जुड़े हुए हैं। देवरी गांव ने पहल की और आसपास के गोपालपुरा हरीपुरा भूरियावास गढ़ बसाई और सूरतगढ़ जैसे गांवों ने इस आदर्श को अपनाया। यह दो तरफा संघर्ष था। एक तरफ विरोध दूसरी तरफ रचना व संरक्षण। गांव वालों ने इन दोनों कार्यों को एक साथ उठाया। तरुण भारत संघ की प्रेरणा से बनी ग्राम सभाओं ने तय किया कि जंगल विभाग के कर्मचारियों को रिश्वत देना बंद कर दिया जाए और गांव वाले खुद वनों की रक्षा करें। यह चेतना में बदलाव का प्रतीक था। क्योंकि जबसे जंगल गांव की सामलात देह नहीं रह गए थे तबसे गांव वालों का जंगल के प्रति नजरिया बदल चुका था। जब हमारी सरकारें अपनी होने की भावना विकसित नहीं कर सकी है तो उनकी संपत्ति को लोग कैसे अपना समझें। सरकार के रवैए और रोजमर्रा की मजबूरी ने परायापन पैदा कर दिया। इसलिए लोग जंगल को लूट की वस्तु समझने लगे थे। वन विभाग के कर्मचारियों के बर्ताव से उनकी यह भावना और भड़कती थी।

गांव वालों ने न सिर्फ वन विभाग के कर्मचारियों को सालाना हजारों रुपए, अनाज, दूध, घी और मवेशी देना रोक दिया बल्कि अपने लोगों पर भी वन काटने पर पाबंदी लगा दी। देवरी गांव सरिस्का के बीच में पड़ता है। वहां कभी पानी के लाले पंड़े रहते थे। लेकिन आज जोहड़ों ने उनका पानी वापस ला दिया है। इस ग्राम सभा ने तय किया कि जो कुल्हाड़ा लेकर जंगल की तरफ जाएगा उस पर 10 रुपए जुर्माना होगा और जो पेड़ काटेगा उस पर 51 रुपए यह जुर्माना ग्राम सभा कोष में जमा होगा और उससे नया पेड़ लगाया जाएगा। गांव वालों ने इस नियम को सख्ती से लागू किया। हर महीने पूर्णमासी और अमावस्या को ग्राम सभा की बैठक होने लगी। जिन-जिन गांवों में ग्रामसभाएं सक्रिय थीं वहां जंगल कटने लगभग बंद हो गए। लेकिन अगल बगल के वे गांव मानने को तैयार नहीं थे जहां तरुण भारत संघ का काम नहीं है। इसके लिए पदयात्राएं, व पर्यावरण यज्ञ वगैरह किए गए जिनका काफी हद तक असर पड़ा। पर सरिस्का क्षेत्र के सभी गांव इस सामुदायिक नियम को मान गए हों ऐसा नहीं है। इसी वजह से वन संरक्षण के इस प्रयास पर पानी फिर जाने का खतरा मंडरा रहा है।

दूसरी तरफ वन विभाग वालों की रिश्वत बंद हुई तो वे बौखला गए। चूंकि गांव वालों ने जंगल काटना बंद कर दिया था इसलिए वे कानूनी पकड़ में भी नहीं आ पाते थे। फिर भी झूठे मुकदमों मे गांव वालों को फंसाया जाना जारी रहा। कई बार तो वन विभाग के कर्मचारी रात को पहाड़ी पर चढ़कर तलहटी में बसे गांवों पर पत्थर गिराते थे। न्यायालय की फीस बताकर राजगढ़ अदालत में देवरी गांव के लोगों से जंगल विभाग वालों ने जुर्माना धरा लिया। एक वन अधिकारी ने तो बूढें भगवान सहाय गूजर को लाठियों से पीटा।

लेकिन गांव वाले अपने संकल्प पर डटे रहे और धीरे-धीरे वन विभाग के कर्मचारी भी उनके पक्ष को समझने लगे। तभी तो बाघ परियोजना के क्षेत्र निदेशक सुनयन शर्मा कहते है "गांव वाले हमारे सर्वश्रेष्ठ वन संरक्षक हैं।" लेकिन वे यह भी कहते हैं कि "मानव सभ्यता संरक्षित क्षेत्र की वनस्पतियों और वन्य जीवों के लिए अहितकारी है, इसलिए हम उन्हें हटाने के लिए मजबूर हैं।"

सवाल सिर्फ पर्यावरण संबंधी शब्दावली गढ़ने, कानून बनाने और विभाग खड़े करने का नहीं है बल्कि उस दृष्टि का है जो मनुष्य और प्रकृति के रिश्तों को परिभाषित करती है। अगर इस बारे में कोई गहरी समझ व दूर-दृष्टि नहीं होगी तो हम कभी मानव की आवश्यकताओं के आगे पेड़, पौधे, जंगल, नदी, पहाड़ और शेर, बकरी सबको तुच्छ समझेंगे, तो कभी एक टीला या दस बीघे वन या 15 बाघों की हिफाजत के लिए करोड़ों की परियोजनाएं शुरू कर देंगे। पता नहीं यह प्रायश्चित है या नए तरह का भोगवाद। सामलात देह या सामुदायिक संसाधन की अवधारणा को लेकर गहरा विवाद है। एक दृष्टि इसकी उत्पत्ति पश्चिम के राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र में देखती है। उसके

अनुसार पश्चिमी समाज में पैदा हुए राज्य और बाजार ने ही सामलात देह का सर्वाधिक विनाश किया है। आज उन्हीं के परिप्रेक्ष्य में किए जाने वाले सामुदायिक कर्म से इनको नहीं बचाया जा सकता। क्योंकि हार्डिन से लेकर मैनकर ओलसन जैसे सामलात देह के अध्येता भी निजी हितों के आधार पर इसके रक्षा का उपाय सुझाते हैं। इस भारतीयतावादी दृष्टि का कहना है कि अगर हमें इसे बचाना है तो इसकी तलाश उस पारंपरिक भारतीय समाज में करनी होगी जहां वन पंचायत और पानी पंचायत जैसी संस्थाएं और पेड़ों की पूजा से लेकर उनके काटने को पाप समझी जाने वाली मान्यताएं थीं। इसमें भी कई धाराएं है। एक धारा ब्रिटिश काल के पहले की स्थिति को ठीक मानती है। दूसरी ऋषियों महर्षियों के जमाने का आदर्श रखती है।

दूसरा दृष्टिकोण आधुनिकतावादी है। यह आधुनिक संस्थाओं और औद्योगिक विकास की प्रक्रिया के दौरान ही सामलात देह की रक्षा और उसके विकास की बात करती है। यह बाजार और राज्य से अंतर्व्यवहार के साथ ही इस संपत्ति का हित देखती है। ओलसन कहते हैं कि साझा हित के बिना कोई समूह हो ही नहीं सकता। इसी समूह की प्रथाएं, परंपराएं और नियम सामलात देह की संस्था को खड़ा करते है। उस समूह के पास उसकी हिफाजत करने और व्यक्तिगत और सामुदायिक हितों व आचरणों में संतुलन बिठाने का अधिकार होना चाहिए। लेकिन यह भागीदारी तब तक नहीं शुरू होती जब तक इसके लिए कोई उत्प्रेरक नहीं होता। वह उत्प्रेरक नेता हो सकता है, कोई आपदा हो सकती है, बाहरी खतरा हो सकता है पा सबकी साझा जरूरत हो सकती है। इन गहरे दृष्टिभेदों के अलावा एक खतरा अंतर्राष्ट्रीय साझा संसाधन के नाम पर वनों के पेटेंट किए जाने का है। जिस तरह स्थानीय लोगों से देशी सरकारें वन छीन लेती है उसी तरह विकासशील देशों के विकसित देशों द्वारा वन छीन लेने (पेटेंट करने) का दबाव बढ़ रहा है। हालांकि सितंबर 93 के पहले हफ्ते में विकासशील देशों के वानिकी मंच के मंत्री स्तरीय सम्मेलन में भारत ने वनों पर पेटेंट कानून लगाने से इंकार कर दिया है। लेकिन विकसित देश अपनी शर्ते मनवाने के लिए डांटने और पुचकारने दोनों की रणनीति अपनाते हैं। इसलिए भ्रष्ट और राजनैतिक प्रतिबद्धता विहीन विकासशील देशों की सरकारें उनके आगे कब झुक जाएं कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसे माहौल में विकासशील देशों में अपनी सरकारों पर दबाव बनाने के लिए प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा का आंदोलन होना निहायत जरूरी है। और यह आंदोलन सीढ़ीदर सीढ़ी स्थानीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक हो तो फिर कहना ही क्या। यह काम विकासशील देशों की अपनी परंपरा व समाज से निकली दृष्टि से ज्यादा मजबूती से हो सकता है।

लेकिन सवाल उठता है कि क्या हम सामलात देह के रखरखाव की जिम्मेदारी स्थानीय पंचायतों पर छोड़कर निश्चिंत हो सकते हैं। क्या हम ब्रिटिश काल के पहले के पर्यावरणीय 'स्वर्णयुग' में पहुंच सकते हैं। फिर हमें आज के युग में काम करने वाली

ग्रामीण संस्थाओं की तलाश करनी पड़ेगी। आज दो तरह की पंचायतें हैं। एक तो पंचायत राज अधिनियम के तहत बनने वाली आधुनिक ग्राम पंचायतें। ये पंचायतें इतनी भ्रष्ट हो चली हैं कि इनसे सिर्फ सामलात देह के पट्टे बेचने की ही उम्मीद की जा सकती है, हिफाजत की नहीं। दूसरी तरफ विरादरी या जाति की पंचायतें हैं। यह पंचायतें जाति की सघनता वाले इलाके में बेहद असरदार हैं। इन पंचायतों ने टिकैत जैसे किसान नेता व बड़े आंदोलन को भी जन्म दिया है। पर इन पंचायतों का भी पतन हो गया है और वे अक्सर ग्रामीण ताकतवर समूहों के हितों की रक्षा और कमजोर लोगों पर जुल्म करती दिखती हैं। कभी किसी को गधे पर नंगा घुमाया जाता है तो कभी किसी का सर कलम कर दिया जाता है। क्या उन पंचायतों को फिर से मजबूत किया जाना चाहिए ? ऐसी स्थिति में किससे उम्मीद की जाए ?

इन दिक्कतों के बावजूद आज यह धारणा बलवती होती जा रही है कि प्राकृतिक संसाधन, सामलात देह, व पर्यावरण की सबसे अच्छी हिफाजत स्थानीय निवासी ही कर सकते हैं। रूमानी पर्यावरणवादी भले ही जंगलों से वनवासियों को खदेड़ने की बात करें पर गहरी समझ वाले लोग उन्हें पर्यावरण का सबसे अच्छा दोस्त मानते हैं। यह बात तथ्यों से साबित की जा सकती है कि जहां सामलात देह का सरकार ने उपयोग करना शुरू कर किया वहां गरीबों की परेशानियों बढ़ी हैं और सामलात देह का क्षरण हुआ है।

आइए इन स्थितियों को शिवालिक श्रृंखला के दो इलाकों के उदाहरण से समझा जाए। हम पहला उदाहरण उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के 'बान' उत्पादकों का लेते हैं। बान यानी रस्सी या सुतली। इससे आम भारतीय घरों की चारपाइयां बुनी जाती हैं। ये सुतली कहीं पटसन से बनती है, कहीं मूंज से कहीं, नारियल से तो कहीं भांभड़ से। सहारनपुर में भांभड़ नामक घास की भरमार है। सन् 1951 में केंद्र सरकार द्वारा सभी वन क्षेत्रों का मालिकाना हक लिए जाने के पहले यहां के स्थानीय निवासी भांभड़ के मालिक थे। वे अपनी मर्जी से घास काटते, उसे कूटते पीटते और सुतली बनाकर बेचते थे। यह उनकी जीविका का महत्वपूर्ण साधन था। लेकिन 1951 के वन कानून ने इसे छीन लिया। गौर करने लायक बात है कि एक तरफ सरकार जमींदारी उन्मूलन करके अपने और किसानों के बीच बिचौलियों को खत्म कर रही थी दूसरी तरफ बान उत्पादकों और अपने बीच वन विभाग, राज्य वन विभाग और ठेकेदारों की लंबी फौज खड़ी कर रही थी। जो बान उत्पादक कभी मर्जी के मालिक हुआ करते थे वे आज वन विभाग और ठेकेदारों के आगे लाचार हैं। भांभड़ की कटाई व नीलामी से लेकर बिक्री तक का सारा काम उत्तर प्रदेश वन विभाग देखता है। यह इसके बदले वन विभाग को रायल्टी देता है। भांभड़ घास की कटाई ठेकेदार कराते हैं। उसके बाद उसकी नीलामी की जाती है। चूंकि 'बान उत्पादकों को बैंक व सरकारी वित्तीय संस्थाएं किसी तरह का ऋण नहीं

देतीं और न ही उनके पास कोई भंडारण गृह होता है, इसलिए वे नीलामी की प्रक्रिया से भी बाहर कर दिए जाते हैं। यहां भी ठेकेदारी प्रथा हावी हैं। ठेकेदार करीब 150 रुपये प्रति क्विंटल की दर से भांभड़ खरीदते और 'बान' उत्पादकों को सिर्फ 15 दिन की मोहलत देते हैं। अगर इस दौरान बात उत्पादकों ने भांभर की कीमत नहीं चुकाई तो उन्हें अगली गांठ नहीं मिलती।

एक बान उत्पादक 130 मिनट में एक किलो भांभड़ से 750 ग्राम 'बान' यानी दिन भर में पौने तीन किलो बान बनाता है। यह साप्ताहिक बाजार में चार रुपये प्रति किलो की दर से बिकता है। अगर उसमें से भांभड़ की लागत निकाल दी जाए तो एक मजदूर को दिन भर में आठ धंटे मेहनत की साढ़े तीन रुपये मजदूरी मिलती है। जबकि वाजार में यह मजदूरी 10 रुपए तक है।

यह तो रही बान उत्पादकों की दुदर्शा। दूसरी तरफ सरकार व ठेकेदारों के नियंत्रण में आने के बाद सन् 1968-69 से 1977-78 के दौरान बान का उत्पादन 89,474 कुंतल से धटकर 28,322 कुंतल तक आ गया था। शायद वन विभाग को सिर्फ राजस्व की चिंता है।

इन स्थितियों में यहां 'विकल्प' नामक सामाजिक संस्था ने कुछ उम्मीद जगाई। इसने 1980 में मिर्जापुर गांव में बान उत्पादक समिति का गठन किया। उसके बाद और कई सहकारी संगठन बने। सन् 1980 में गढ़ क्षेत्र मजदूर मोर्चा नामक संगठन बना। और वन विभाग और ठेकेदारों के शोषण से पीड़ित लोगों ने आंदोलन चलाए। आज यहां के अधिकारी स्थानीय लोगों के अधिकार व भागीदारी का थोड़ा बहुत महत्व समझने लगे हैं।

दूसरा उदाहरण हरियाणा के अंबाला जिले का है। हिमालय की शिवालिक श्रृंखला की तलहटी के कुछ गांव अपने इलाके की उपजाऊ मिट्टी बहने से परेशान थे। सुखना नदी इन्हें बहाकर सुखना झील पाट रही थी। जंगल खत्म हो रहे थे। लोगों के ढोर डंगर को चारे के लाले पड़ रह थे। और परेशान लोग जंगल बचाने के बजाय उनकी चराई पर जुटे थे। केंद्र और हरियाणाा सरकार ने पहल की और सुखों माजिरी गांव के पास जंगलों को कंटीले तार से घेरना, मेढ़ बनाना उन पर पेड़ लगाना और छोटे-छोटे बांध बनाना शुरू कर दिया। उस पहल से गांव वाले चिढ़ गए। उन्होंने सरकार के इस प्रयास का जमकर विरोध किया। वे मेढ़े तोड़ देने व पेड़ काट लेने से भी बाज नहीं आते थे। लेकिन धीरे-धीरे गांव वालों को सरकार के काम के महत्व का अहसास हुआ। और इस प्रयास का विरोध करने के बजाय उसमें सहयोग करने लगे। पर्यावरण संरक्षण के पांरपरिक तरीकों ने चमत्कार दिखाया और अस्सी के दशक में गांव की हालत सुधरने लगी। भूक्षरण रुका, जंगल बढ़े और नतीजतन फसलों और दुध का उत्पादन बढ़ा। बीच में पानी का विवाद उठा तो गांव वालों ने जल उपभोक्ता सोसायटी बना

ली और विवादों का निपटारा खुद करने लगे। धीरे-धीरे सरकार ने भी सामलात देह का संरक्षण गांव वालों पर छोड़ दिया। आज सुखोमाजिरी गांव बखूबी यह दायित्व निभा रहा है।

सुखोमाजिरी ही क्यों अंबाला जिले के कहीनवाला सूरजपुर, जतनमाजिरी, धामला, प्रेमपूरा और टांडा गांव भी इस आदर्श को अपना रहे है। इन गांवों ने अपने संसाधनों की रक्षा के लिए पर्वतीय संसाधन प्रबंधन समिति भी बनाई है।

इन दोनों उदाहरणों से दो निष्कर्ष निकलते हैं। सहारनपुर के बान उत्पादकों के उदाहरण से तो लगता है कि सरकार और उसकी संस्थाओं ने सामलात देह पर कब्जा जमाकर गरीबों को और परेशानी में डाल दिया है। इसके अलावा उन्हें राजस्व कमाने से मतलब है और सामलात देह की हिफाजत व विकास की कोई चिंता नहीं। दूसरी तरफ हरियाणा के सुखोमाजिरी प्रयोग से लगता है कि गांव के लोग ही सामलात देह को नष्ट कर रहे है। वे उसके रक्षा की परंपराएं भूल चुके हैं। इसके विपरीत सरकारी संस्थाएं पहल करके गांववालों की सामलात देह के रखरखाव का पारंपरिक मार्ग दिखाती हैं।

लेकिन इन दोनों उदाहरणों से एक समान बात यह निकलती है कि आज के गांव सामलात देह की रक्षा करने की पुरानी धारणा भूल चुके हैं और इस बारे में उनके सामने कोई नई दृष्टि जगानी हो या परंपराओं की याद दिलानी हो किसी उत्प्रेरक की जरूरत है। यह उत्प्रेरक कोई सरकारी संस्था भी हो सकती है और गैर सरकारी भी। लेकिन जो भी यह काम करे, पूरी ईमानदारी से करे। क्योंकि इसके बिना न तो हम गांवों का टिकाऊ विकास कर सकते हैं और न ही प्राकृतिक संसाधनों को बचा सकते हैं। विकासशील देशों के वानिकी मंच ने जिस तरह से दिल्ली घोषणा में वनों पर राष्ट्रीय अधिकार को सर्वोपरि बताया गया है उससे साफ लगता है कि अगली सदी में वन संपदा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्वपूर्ण आधार होगी। लेकिन अगर हमारे पास वन ही नहीं रहेंगे तो हम किस पर राष्ट्रीय अधिकार का दावा करेंगे ? वैसे हमारी सरकार सबसे बड़ी उपभोक्तावादी संस्था है। समाज उसकी तुलना में पीछे है। पर होड़ उपभोक्तावादी बनने की नहीं संचय और संरक्षण की हो तो बेहतर है।

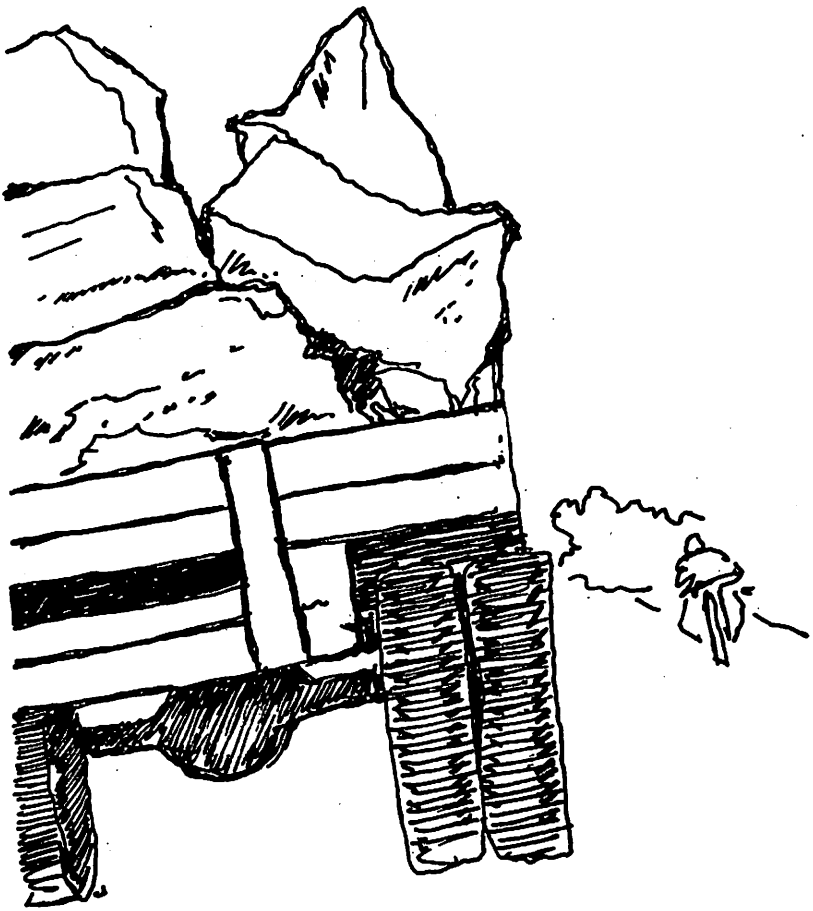

विकास, भ्रष्टाचार और पर्यावरण

विकास, भ्रष्टाचार और पर्यावरण ये तीनों मुद्दे आपस में जुड़े हुए हैं। एक का तार छेड़िए बाकी दो अपने आप झनझना उठेंगे। एक सिरे को सुलझाना शुरू कीजिए बाकी दो सिरे अपने आप सुलझ जाएगें। लेकिन भ्रष्टाचार के लुप्त हुए बिना विकास का पर्यावरण से मिलन हो ही नहीं सकता। भ्रष्टाचार का ग्रह चाहे विकास के खानें में रहे या पर्यावरण के, दोनों तरफ अनिष्ट होता रहेगा।

तीसरी दुनिया और विशेषकर दक्षिण एशिया में विकास नीति के साथ व्यापक रूप से भ्रष्टाचार जुड़ा हुआ है। इंदिरा गांधी तो यहां तक कह गई थीं कि भ्रष्टाचार और पर्यावरण से छेड़छाड़ के बिना विकास होता ही नहीं। उसी बात को तथ्यात्मक रूप से दोहराते हुए राजीव गांधी ने कहा था कि ऊपर से चलने वाला एक रुपया आम आदमी तक पहुंचते-पहुंचते 27 पैसे रह जाता है। बाद में उन्होंने देश को 21 वी सदी में ले जाते हुए बोफर्स जैसा घोटाला करके उसे साबित भी कर दिया। प्रधानमंत्री पी० वी० नरसिंह राव ने भारतीय अर्थव्यवस्था के 'पिजड़े में बंद शेर' को मुक्त कराने के नाम पर ऐतिहासिक प्रतिभूति घोटाला करवाया। लेकिन इतने बड़े-बड़े भ्रष्टाचार के मामलों में किसी को न तो सजा मिली है न मिलने की संभावना है। इससे भी मजेदार बात यह है कि इन मुद्दों पर गंभीर शोध या अध्ययन की प्रवृत्ति कम दिखती है। यह बात

गुन्नार मिर्डल ने भी 'एशियन ड्रामा' में स्वीकारी थी। उन्होंने कहा था कि दक्षिण एशिया में भ्रष्टाचार को शोध का विषय न बनाने का एक तरह का टैबू (निषेध) है। भ्रष्टाचार उन परियोजनाओं में तो है ही जो विकास के नाम पर पर्यावरण पर कहर बरपाती हैं, लेकिन यह उन योजनाओं में भी है जो पर्यावरण और वन संरक्षण के नाम पर चलाई जाती हैं। अगर ऐसा न होता तो भ्रष्टाचार की दुशाला ओढ़े चिमनभाई पटेल सरदार सरोवर से जोंक की तरह न चिपके होते और न ही सरिस्का संरक्षित वन क्षेत्र और बांध परियोजना क्षेत्र में धड़ाधड़ अवैध खानों को पट्टे दिए जाते। इस भ्रष्टाचार में छोटे-छोटे राजस्व व वन अधिकारी ही नहीं राज्य के सचिव व मुख्य सचिव जैसे बड़े अधिकारी तक शामिल होते हैं। यह दायरा व्यापारियों से लेकर राजनेताओं मंत्रियों व मुख्य मंत्रियों तक भी जा सकता है। भ्रष्टाचार का दायरा जितना बड़ा होगा उसे जनहित से जोड़ने में उतनी ही सुविधा होती है। बड़े आकार का भ्रष्टाचार एक वैचारिक जमीन अख्तियार करने लगता है। दूसरी तरफ पर्यावरण की रक्षा व स्थानीय विकास में लगी संस्थाएं व लोगों में सेवा और संघर्ष के बजाय स्वार्थ की भावना बलवती हो रही हैं। अभी हाल में सरगुजा जिले की एक 'समाजसेवी' संस्था पर आदिवासियों की जमीन हड़पने का आरोप लगा है।

ऐसी स्थिति में भ्रष्टाचार करने वाली समर्थ ताकतें कभी विकास बनाम पर्यावरण कभी राष्ट्रीय विकास बनाम विदेशी चंदे का मुद्दा बनाकर अपने पक्ष मजबूत कर लेती हैं। इस माहौल में विकास और भ्रष्टाचार के सामाजिक नुकसान को नजरंदाज कर दिया जाता है।

लेकिन सरकारी संस्थाओं के भ्रष्टाचार के परिमाण के आगे छोटी-मोटी संस्थाओं की औकात क्या ? जरा भारत में वृक्षारोपण के नाम पर हुए भ्रष्टाचार पर नजर डालिए। सन् 1980 से 1988 तक देश की एक करोड़ 20 लाख हेक्टेयर जमीन पर पेड़ लगाने का दावा किया जाता है। यह क्षेत्रफल केरल और असम राज्य के बराबर पड़ता है। अगर इस आंकड़े को तोड़ा जाए तो हर गांव में 40,000 नए पेड़ लगे होने चाहिए थे। लेकिन गिने-चुने गांव होंगे जहां 100-200 नए पेड़ लगे हों। दरअसल ये पेड़ कागजों में लगे और देश के भ्रष्ट तंत्र ने 3000 करोड़ रुपए आपस में बांट लिए।

अगर भ्रष्टाचार छोटे स्तर का होता है तो कभी-कभी प्रशासन या सरकार उस पर कार्रवाई करके अपनी छवि भी सुधार डाला है। जैसे अहमद नगर जिले के रोगन सिद्धी में वन विभाग के छोटे अफसरों द्वारा लाखों रुपए के महंगे औजार खरीदना। ये औजार स्थानीय स्तर पर सस्ती दरों पर मिल सकते थे लेकिन उन्हें बंबई की एक कंपनी से महंगी दरों पर खरीदा गया। अन्ना हजारे के नेतृत्व में चले आंदोलन की वजह से जांच वगैरह तो शुरु हुई पर कार्रवाई तब तक नहीं हुई जब तक अन्ना हजारे ने अपना वृक्षमित्र सम्मान लौटाने की धमकी नहीं दी।

लेकिन सरिस्का क्षेत्र में खानों के आवंटन में जो भारी धांधली हुई उसकी उचित जांच नहीं हुई। वैसे तो राजस्थान विधान सभा ने इस मुद्दे पर कई दिनों तक बहस की और जांच के लिए सर्वदलीय समिति भी गठित की लेकिन उसका मकसद स्वयं सेवी संस्था तरुण भारत संघ को बदनाम करना ज्यादा था। वे अवैध खनन की जांच का दावा तो करते थे पर पता नहीं विधान सभा अचानक भंग होने जाने से उनकी जांच रुक गई या वे जांच करना ही नहीं चाहते थे। करते भी क्यों, राजस्थान के सारे प्रमुख दल व नेता किसी न किसी तरीके से खानों से फायदा जो उठा रहे हैं, इसलिए उनको लिए खान मालिकों का समर्थन करना लाजमी है और वे इसके लिए मुहिम चला भी रहे हैं।

दरअसल 'विकास' शब्द इतना वजन रखता है कि इससे बड़ों-बड़ों की बोलती बंद हो जाती है। विकास के अंतिम चरण में बनने वाले स्वर्ग की कल्पना से लोग बड़ी-बड़ी तकलीफें सहने और तमाम संसाधनों का त्याग करने को तैयार हो जाते हैं। लेकिन न उन्हें 'माया मिलती है और न राम'। सिर्फ चंद लोग विकास की इस प्रक्रिया का लाभ उठा पाते हैं और ज्यादातर लोग फिर उपेक्षा अभाव और यातना में जीने को मजबूर रहते हैं। विशेषकर तीसरी दुनिया में विकास-प्रक्रिया का यह दारुण दृश्य ज्यादा साफ दिखाई पड़ता है। लेकिन हैरत की बात है कि कोई विकास प्रक्रिया का विरोध नहीं करता। बस ज्यादा से ज्यादा लोग यही कहते मिल जाएंगे कि विकास को भ्रष्टाचार ने अवरुद्ध कर दिया। या सार्वजनिक क्षेत्र ने विकास नहीं होने दिया या असंतुलित विकास किया गया। पर आधुनिकतावादी विचारों में इस तरफ बहुत कम गौर किया जाता है कि इस विकास नीति में कुछ मूलभूत खामियां भी हैं। यह अवलोकन अगर कहीं दिखाई भी पड़ता है तो वह मौजूदा विकास नीति से संक्षिप्त असहमति के तौर पर। यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या हम विकास की मौजूदा तकलीफों से ऊबकर पांपरिक समाज में लौट जाएं या आधुनिकता में उसकी तलाश करें ?

मौजूदा विकास नीति के संदर्भ में सबसे समर्थ और सुविचारित असहमति मार्क्सवादी विचाराधारा थी। लेकिन वह भी अत्याधिक उत्पादन और प्रकृति के दोहन व नियंत्रण का उसी तरह समर्थन करती थी जिस तरह पूंजीवाद। यह पूंजीवाद की निंदक भी थी और प्रशंसक भी। उसने उत्पादन प्रक्रिया को तो पवित्र माना बस उसके नियंत्रण और वितरण का जिम्मा राज्य व दूसरे शब्दों में कहें कम्युनिस्ट पार्टियों पर डाल दिया और सोचा कि इस तरह समता मूलक और शोषन विहीन समाज बन जाएगा। लेकिन यह दूसरे दर्जे का पूंजीवाद था और वह सौ साल भी नहीं चल सका। एकाधिकार पूंजीवाद का प्रधान गुण है। साम्यवाद के पतन के साथ वह नए रुप में सामने आ रहा है। भूमंडलीकरण और उदारीकरण एकाधिकार हासिल करने के नए माध्यम हैं। इसमें तीसरी दुनिया के पिछड़े व विकासशील देशों को समृद्धि का सपना दिखाया जा रहा है। इन देशों के सामने जहां दक्षिण कोरिया और ताइवान जैसी सफलताओं के मानदंड हैं वहीं

ब्राजील और लतीनी अमेरिका जैसे देशों की दुर्दशा के उदाहरण भी।

कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि दुनिया आज विकास की भौगोलिक सीमा पर पहुंच गई है। मौजूदा विकास नीति अगर एक देश को समृद्धि देगी तो दूसरे को गरीबी। अगर किसी को कर्ज देकर बढ़ाएगी तो किसी का कर्ज के बोझ से कमर भी तोड़ देगी। यानी वृद्धि द्वारा समानता लाने के बजाय सामाजिक न्याय के साथ वृद्धि लाने का प्रयास होना चाहिए।

आइए जरा विकास की बदलती परिभाषाओं पर गौर करें। विकास की एक परिभाषा तो जैव वैज्ञानिक अर्थों में है। नन्हें से बीज से वट बृक्ष बनना या शिशु से प्रौढ़ मनुष्य बनना एक विकास है। लेकिन यह विकास की चक्रीय परिभाषा है। भारतीय और ग्रीक धर्मशास्त्रों में काल और विकास के बारे में चक्रीय अवधारणा ही प्रचलित थी। दूसरी अवधारणा रैखिक है। यह यहूदी और इसाई धर्मशास्त्रों से निकली है। रैखिक अवधारणा में विकास का कभी अंत नहीं होता। वह अनंत तक जाता है। इसी अवधारणा पर टिकी है आधुनिकता। विकास का नया अर्थ है रोज कुछ न कुछ और हासिल करना। अधिकतम उपभोग और अधिकतम संचय करना। इसी के साथ जुड़ी है ज्यादा से ज्यादा उत्पादन की आवश्यकता और प्रकृति पर नियंत्रण और उसका अधिक से अधिक दोहन। पर्यावरण का मौजूदा संकट भी इसी विकास दृष्टि से पैदा हुआ है।

पर्यावरण रक्षण की पारंपरिक भारतीय दृष्टि इसके ठीक विपरीत है। वह प्रकृति पर नियंत्रण के बजाय उसके साथ मेलमिलाप वाले संबंध बनाने की वकालत करती है। प्रकृति और पुरुष की अवधारणा इसीलिए बनी थी। कहा जाता था कि प्रकृति और स्त्री एक दूसरे के पर्याय हैं। वे शक्ति रूपा है। पुरुष का अस्तित्व भी उन्हीं के साथ है। उनके अभाव में सृष्टि के विनाशक और सर्जक शिव मात्र शव रह जाते हैं। आधुनिक दौर में इस दृष्टि पर जोर गांधी जी से शुरू होता है। जो कहते थे कि "धरती के पास सबकी जरूरत के लिए तो पर्याप्त है, लेकिन सबकी लिप्सा के लिए नहीं।"

विकास नीति को लेकर गांधी और नेहरू में काफी बहस भी चली। लेकिन अंत में देश पर नेहरू माडल ही लागू हुआ। क्योंकि पूरी दुनिया में उसी से मिलते जुलते माडल चल रहे थे। ताज्जुब की बात है कि जो कांग्रेस पार्टी अंग्रेज सरकार की वन-नीतियों की कड़ी खिंचाई करती थी उसने अपने शासन में वन नीति या वन कानूनों में कोई खास परिवर्तन नहीं किया। हालांकि भारत के आधुनिक पर्यावरणवाद के जनक गांधी ही माने जाते हैं पर रामचंद्र गुहा के अनुसार उनकी विचाराधारा को जेसी कुमारप्पा ने विस्तार दिया और मजबूत आधार प्रदान किया। उनके अलावा प्रोफेसर राधाकमल मुखर्जी और वेरियर इलविन नामक अंग्रेज अधिकारी का नाम भी उल्लेखनीय है। इन लोंगो ने भी शहर केंद्रित विकास पर गहरे सवाल खड़े किए और वन नीति का विरोध किया।

लेकिन आधुनिकता के प्रचंड वेग ने विकास के गांधीवादी माडल को हासिए पर फेंक दिया। आज गांधीवादी माडल की चर्चा फिर इसलिए उठ रही है क्योंकि नेहरूवादी माडल बुरी तरह फेल हुआ है। इसके अलावा पश्चिम से आई पर्यावरणवादी लहर में गांधीवाद की छाया दिखाई पड़ रही है। दूसरी तरफ पश्चिम से ही भूमंडलीकरण और उदारीकरण की आंधी भी आई हुई है। हमारे पास फिर यह सोचने का मौका आया है कि हमारे विकास की दिशा क्या हो।

नई अर्थ-नीति के साथ उपभोक्तावाद की पूरी कल्पना जुड़ी है। इतना ही नहीं इसके पीछे आर्थिक साम्राज्यवाद की गहरी साजिश भी है। क्योंकि यह नीतियां अमेरिका और पश्चिमी देशों के हित में हैं इसलिए हमें भी उनमें अपना हित देखना चाहिए, ऐसा कहा जाता है। लेकिन इन नीतियों में हमारी निर्भरता खत्म करने का तो प्रयास है ही, इनसे हमारे पर्यावरण पर गहरे दुष्प्रभाव भी पड़ेंगे। इसके जबाव कहा जा सकता है कि जब पश्चिमी देशों में पर्यावरण के प्रति इतने व्यापक आंदोलन चल रहे हैं तो उनके कार्यक्रम विनाशकारी कैसे हो सकते हैं ?

वहां पर्यावरणवादी चेतना के प्रसार से इंकार नहीं किया जा सकता और लेकिन कि उनकी दृष्टि अपने प्राकृतिक संसाधनों की बचाकर अब हमारे संसाधनों के दोहन पर है। अब तक हम प्राकृतिक संसाधन निर्यात करते थे और अब वे खुद यहां उसका दोहन करने आ रहे हैं। पर्यावरण संरक्षण के नाम पर वे विकासशील देशों के वनों को पेटेंट करने की सलाह दे रहे है। यानी वे पर्यावरण के दोहन और संरक्षण दोनों में अपनी चलाना चाहते है। ताकि दुनिया जो भी करवट बदले उनका एकाधिकार बना रहे। जरूरत विकसित देशों के इस मायाजाल को समझने की है।

हमारे यहां के पर्यावरणवादियों की एक धारा तो मौजूदा संकट का हल पश्चिमी सभ्यता के नकार और पांरपरिक व आध्यात्मिक भारतीय जीवन पद्धति को अपनाने में देखती है। इसका एक छोर तो वहां तक जाता है जब मध्य प्रांत के बैगा आदिवासियों ने खेती का विरोध किया था। वे खेती के लिए वन काटने और किसी तरह का औजार इस्तेमाल करने के खिलाफ थे। उनका मानना था कि अगर वे अपने जंगलों में हल चलाएंगे तो उनके घर का एक सदस्य मर जाएगा। यानी वे उस छोट से छोटे औजार के भी खिलाफ थे जहां से आधुनिक सभ्यता शुरू होती है।

दूसरी दृष्टि प्रकृति का न्यूनतम दोहन करने और उसे एवज में कुछ लौटाने की है। यह दृष्टि आधुनिक ज्ञान विज्ञान का निषेध नहीं करती पर उसके सुविचारित उपयोग का सुझाव देती है। इसके अनुसार बाजार या आधुनिक टेकनोलोजी से संसर्ग होना चाहिए पर वे हमारे मालिक नहीं नौकर हों। चिपको आंदोलन के नेताओं सुन्दरलाल बहुगुणा और चंडीप्रसाद भट्ट में यही फर्क है। सुंदरलाल बहुगुणा कहते हैं पेड़ बिलकुल न कटे। जबकि चंडीप्रसाद भट्ट का कहना है कि पेड़ कटे पर उनकी जगह पर नए

पेड़ लगाए जाएं! इस मामले में तरुण भारत संघ चंडीप्रसाद भट्ट वाली धारा के करीब है। वह सरिस्का या अरावली में खनन का विरोधी नहीं है। पर वह चाहता है कि बहुत जरूरी खनन ही हों और उनसे पर्यावरण को होने वाले नुकसान की भरपाई का पूरा ख्याल रखा जाए।

हम आधुनिक सभ्यता का प्रतिकार करते हुए वैदिक युग में नहीं जा सकते। हमें इसी आधुनिक दौर में अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर विकास नीतियां बनानी होगी। हम उपभोक्तावाद को समाप्त नहीं कर सकते पर उस अंकुश जरूर लगा सकते हैं। अगर हमारी विकास और पर्यावरण नीति पर यह दृष्टि हावी रहे कि पर्यावरण और जैव संपदा का अस्तित्व सिर्फ मानव उपभोग के लिए जरूरी नहीं है, बल्कि उनका बना रहना अपने आप में महत्वपूर्ण है, तो हम शायद आने वाली पीढ़ियों को एक रहने लायक धरती दे सकें।

अगर हम मानव जाति ही नहीं धरती के समस्त जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों को सुरक्षित भविष्य देना चाहते हैं तो धरती की विविधता को बचाने की कोशिश करेंगे। तरुण भारत संघ का काम इस दिशा में एक गंभीर प्रयास है। अरावली एक प्राचीन पर्वत शृंखला है और खनिजों और पत्थरों की विविधता ही नहीं जैव और वानस्पतिक विविधता के लिए भी प्रसिद्ध है। उसमें सरिस्का ऐसा क्षेत्र है जहां ये विविधता सर्वाधिक सघन रूप में पाई जाती है। इसीलिए सरिस्का संरक्षण के काम ने अरावली संरक्षण में पथ-प्रदर्शक भूमिका निभाई है। लेकिन प्रकृति और पुरुष का संबंध कोई जड़ संबंध नहीं है। वह गतिशील है। उसमें एक दूसरे से कुछ लेने व उनसे समृद्ध होने की प्रवृत्ति होती है। अगर प्रकृति से जितना लिया जाए उसके एवज में कुछ देने की भी भावना हो तो यह संबंध लंबा चल सकता है। तरुण भारत संघ के महामंत्री राजेंद्र सिंह इस बात पर बार-बार जोर देते हैं। खांटी किसान की तरह जब वे आश्रम के बगीचे में खुरपी लेकर खर-पतवार निकाल रहे होते हैं तो उनके महत्व को भूले नहीं होते। कहते हैं कहीं हम घास को उखाड़ फेंकते हैं तो कहीं हम उन्हें रोपते भी हैं। इसलिए प्रकृति के जीव जंतुओं या वनस्पतियों के बीच किसी खास स्थान पर होने वाले टकराव से स्थायी शत्रुता का निर्णय नहीं कर लेना चाहिए। वे मानते हैं कि प्रकृति में कुल मिलाकर मित्रता की भावना ज्यादा है। राजेन्द्र सिंह ने इस इलाके में प्रकृति के साथ घटते मित्रता भाव को बहाल करने की कोशिश की है। उन्होंने ग्रामीण व्यवस्था को स्वावलंबन देने की पहल भी की है।

लेकिन क्या इस तरह के प्रयास 'विकास' की दिशा मोड़ सकेंगे ? क्या वे विकास नीति में एक संशोधन से ज्यादा साबित हो सके हैं ? ऐसा नहीं कि इस तरह प्रयास या आंदोलन कम हैं। कहीं सरदार सरोवर परियोजना के खिलाफ नर्मदा बचाओ आंदोलन है तो कहीं टिहरी बांध के खिलाफ टिहरी बचाओ आंदोलन। कहीं ताजमहल बचाने के

लिए आगरा के नागरिक संगठित हो रहे हैं तो कहीं नैनीताल को बचाने के लिए कानूनी और राजनैतिक संघर्ष। इस सिलसिले में 'अरावली चेतना यात्रा' उल्लेखनीय है। लेकिन इन सभी समूहों में एक ढीला-ढाला समन्वय भले हो पर किसी तरह की एकता नहीं है।

दूसरी तरफ उन लोगों में गहरी एकता है जिन्हें मौजूदा विकास नीति व उससे जुड़े भ्रष्टाचार का फायदा मिल रहा है। गौर तलब है कि दक्षिणी और उत्तरी छोर पर खड़े हमारे राजनैतिक दलों में पर्यावरण के मुद्दे पर अद्‌भुत मतैक्य है। वे सारे पर्यावरणवादी आंदोलनों की एक ही भाषा और एक की स्वर से निंदा करते हैं। सरदार सरोवर परियोजना को भाजपा भी उतना ही जरूरी मानती है जितना कांग्रेस। इसलिए विजय उन्हीं की दिखती है जो विकास के नाम पर न भ्रष्टाचार की परवाह करते हैं न. पर्यावरण की ?

जहां-जहां पर्यावरण पर गहरे आघात हुए हैं वे सब विकास के नाम पर हुए हैं। उन सब में भ्रष्ट शासक और मध्य वर्ग के गहरे हित रहे हैं। अगर खान मालिक अरावली का विनाश कर रहे हैं तो बिल्डर माफिया नैनीताल और शिमला में भूस्खलन की स्थितियां पैदा कर रहे हैं। ध्यान से देखा जाए तो इनमें विकास नीति का दोष ही नहीं मौजूदा कानूनों का जबरदस्त उल्लंघन भी है। इतने बड़े पैमाने पर कानूनों का उल्लंघन भ्रष्टाचार के बिना संभव ही नहीं। हमें पर्यावरण कानून ही नहीं स्पष्ट नीति चाहिए। जिसकी विकास के अन्य आयामों से अपुरूपता हो। लेकिन इससे भी ज्यादा जरूरत ईमानदारी, अपनेपन और इच्छा शक्ति की है।